बी0ए0-III समाजशास्त्र
भारतीय समाजशास्त्र के पथ–प्रदर्शक
(तृतीय प्रश्नपत्र)
Unit-I

डॉ0 अभिषेक गोपाल
प्रवक्ता–समाजशास्त्र, श्री हरिश्चन्द्र पी0जी0 कालेज, वाराणसी
मो0 8765857996

अध्याय–1

राधाकमल मुकर्जी (1889–1968)

राजकमल मुकर्जी भारत के उन अग्रणी विचारकों में से एक हैं जिन्होंने भारत में समाजशास्त्र को प्रतिष्ठित करने तथा अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास के बीच पाये जान वाले समान आधारों की खोज करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो वह वहाँ अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यध के रूप में नियुक्त हुए। अनेक बौद्धिक संगठनों से जुड़े रहने के साथ ही सन् 1955 से 1958 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। इसके बाद यद्यपि वह सेवानिवृत्त हो चुके थे लेकिन विश्वविद्यालय के लिए उनके बौद्धिक योगदान को देखते हुए सन् 1958 से ही उन्हें विश्वविद्यालय के जे0 के0 इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी के ऑनरेरी निदेशक के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

अगस्त 1968 में अपनी मृत्यु तक प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी इसी पद पर रहते हुये विश्वविद्यालय की सेवा करते रहे।

पारिस्थितिकी पर डॉ0 आर0 के0 मुकर्जी के विचार–

समाजशास्त्र के क्षेत्र में डॉ0 राधाकमल मुकर्जी के द्वारा प्रस्तुत दो अवधारणाओं को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इनमें पहली अवधारणा सामाजिक पारिस्थितिकी की है जिसका विस्तृत उल्लेख उन्होंने सन् 1945 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Social Ecology' में किया। दूसरी अवधारणा का सम्बन्ध मूल्यों की सामाजिक संरचना से है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम पारिस्थितिकी के बारे में प्रोफेसर मुकर्जी के विचारों को संक्षेप में स्पष्ट करेंगे।

अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही डॉ0 मुकर्जी ने लिखा है कि मानव पारिस्थितिकी एक नया विज्ञान है जिसे आज सामाजिक विज्ञानों में महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है। वास्तव में पारिस्थितिकी की अवधारणा का सम्बन्ध मूल रूप से वनस्पति विज्ञान से है जिसके अन्तर्गत हम इस तथ्य का अध्ययन करते हैं कि किस तरह विभिन्न पौधों के विकास की प्रक्रिया भूमि सम्बन्धी विशेषताओं तथा जलवायु से प्रभावित होती है। दूसरे शब्दों में, पौधे के चारो ओर का पर्यावरण ही उसकी पारिस्थितिकी होता है। जन्तु विज्ञान में भी हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि किस तरह विभिन्न जीवधारियों को अपने भौतिक पर्यावरण से अनुकूलन करना आवश्यक होता है। इसे हम जीव–जन्तुओं की पारिस्थितिकी कहते है।

जिस तरह विभन्न पौधों तथा जीव–जन्तुओं की एक विशेष पारिस्थितिकी का उनके विकास की प्रक्रिया से एक घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसी तरह मानव का विकास एक बड़ी सीमा तक उसके चारों ओर की पारिस्थितिकी सम्बन्धी दशाओं पर निर्भर होता है। इसे हम व्यापक अर्थों में मानव पारिस्थितिकी कहते हैं। इस दृष्टिकोण से मुकर्जी ने पारिस्थितिकी अथवा पारिस्थितिकी विज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया–

1. मानव पारिस्थितिकी (Human Ecology)

2. सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)

मानव पारिस्थितिकी का अर्थ–

डॉ0 मुकर्जी ने यह स्पष्ट किया कि मानव पारिस्थितिकी एक व्यापक अवधारणा है जिसमें मानव के पर्यावरण, जीव रचना सम्बन्धी विशेषताओं तथा विभिन्न प्रकार्यों के बीच पाये जाने वाले सन्तुलन के समन्वयात्मक आधार का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टिकोण से वनस्पति तथा जीव–जन्तुओं की पारिस्थतिकी की तरह मानव पारिस्थितिकी भी सामान्य परिस्थितिकी (General Ecology) की एक शाखा है। मानव पारिस्थितिकी के अन्तर्गत हम किसी सम्प्रदाय के सम्पूर्ण पर्यावरण के प्रभावों का अध्ययन करते हैं। यही कारण है कि मानव पारिस्थितिकी का अध्ययन जहाँ जीव विज्ञान तथा भूगोल में महत्वपूर्ण समझा जाता है, वहीं अर्थशास्त्र तथा जनांकिकी के अध्ययन में भी इसका उतना ही महत्व है। सच तो यह है

कि प्राकृतिक नियमों की तरह आर्थिक नियमों, जनसंख्या विशेषताओं तथा सामुदायिक नियोजन को उनकी पारिस्थितिकी सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट किये बिना नहीं समझा जा सकता। इसी कारण ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में आज मानव पारिस्थितिकी के अध्ययन का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

सामाजिक पारिस्थितिकी की प्रकृति तथा अध्ययन क्षेत्र–

सन् 1937 में जब डॉ0 मुखर्जी यूरोप तथा अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने गये तब उन्होंने महसूस किया कि सामाजिक पारिस्थितिकी की पूर्ववर्ती अवधारणा में संशोधन करके समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए एक नयी दिशा दी जा सकती है। इन्हीं विचारों के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Social Ecology' की रचना की। इस पुस्तक में सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा एवं क्षेत्र को उन्होंने जिस रूप में स्पष्ट किया, उसे संक्षेप में निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है– डॉ0 मुकर्जी के अनुसार सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा मानव पारिस्थितिकी से भिन्न है। मानव पारिस्थितिकी में जहाँ मुख्य रूप से किसी समूह के जीवन पर भौगोलिक दशाओं के प्रभाव का अध्ययन करते हैं, वहीं सामाजिक पारिस्थितिकी का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं से है जिनके अनुसार मनुष्य अपनी सामाजिक संरचना तथा उसकी विभिन्न संस्थाओं से अनुकूलन करता है। दूसरे शब्दों में, क्षेत्रीय,

व्यावसायिक तथा सामाजिक अर्न्तक्रियाओं से उत्पन्न होने वाली प्रक्रियायें ही सामाजिक पारिस्थितिकी का आधार है।

सामाजिक पारिस्थितिकी वह अध्ययन है जिसमें स्थान, व्यवसाय और समय के अनुसार सम्बन्ध करने वाले व्यक्ति तथा समूह एक–दूसरे से सहयोग, संघष्र, प्रतिस्पर्द्धा तथा समायोजन के रूप में अर्न्तक्रिया करते हैं। समाज में विभिन्न व्यक्तियों और समूहों की प्रस्थिति वास्तव में एक विशेष स्थान की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दशाओं, आजीविका के तरीकों तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं से प्रभावित होती है। इसी प्रस्थिति के अनुसार व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहार के तरीकों तथा मनोवृत्तियों का निर्धारण होता है। इस प्रकार व्यक्तियों तथा समूहों की प्रस्थिति को प्रभावित करने वाली दशाओं की सम्पूर्णता को ही हम उनकी सामाजिक पारिस्थितिकी कहते है। सामाजिक पारिस्थितिकी का सम्बन्ध जिन प्रमुख तत्वों से है, वे निम्नांकित है–

1. क्षेत्र–

मुकर्जी के अनुसार एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र से भिन्न होता है तथा एक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र के लोगों की तुलना में सम्बन्धों की प्रकृति, सामाजिक प्रक्रियायें तथा सामाजिक मूल्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

2. जनसंख्या तथा रहन–सहन के प्रतिमान–

मुकर्जी के अनुसार अलग–अलग क्षेत्रों में जनसंख्या का आकार, जनसंख्या का घनत्व, जनसंख्या में श्रम–विभाजन तथा गतिशीलता की

प्रवृत्ति जैसी विशेषताएं एक–दूसरे से भिन्न होती है। जनसंख्यात्मक विशेषताओं के अनुसार ही वहाँ व्यवसाय, रहन–सहन और परम्पराओं में भी अन्तर देखने को मिलता है।

3. समुदाय की रचना–

मुकर्जी ने लिखा है कि प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत समाजशास्त्रीय अध्ययन की मुख्य इकाई व्यक्ति न होकर समुदाय है। समुदाय व्यक्तियों के बीच स्थापित पारस्परिक सम्बन्धों का एक प्रतिमान है जो विभिन्न व्यक्तियों को अलग–अलग प्रस्थिति देने के साथ ही उनकी सामाजिक संस्थाओं और विश्वासों को पारिस्थितिशास्त्रीय दशाओं के सन्दर्भ में निर्धारित करता है।

4. सामाजिक प्रस्थिति–

किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति को जो संस्थात्मक भूमिकायें दी जाती है, उन्हीं से उसकी प्रस्थिति को समझा जा सकता है। सामाजिक प्रस्थिति ही यह तय करती है कि व्यक्ति को जीवन में किस तरह के अधिकार और अवसर मिलेंगे, उसकी रूचियाँ और मनोवृत्तियाँ किस प्रकार की होंगी, उसके सम्बन्ध प्रभुत्व के होंगे अथवा अधीनता के आदि।

5. पारिस्थितिकी की प्रक्रियायें–

डॉ0 मुकर्जी ने लिखा है कि सामाजिक पारिस्थिति विज्ञान की विवेचना में अमरीकन समाजशास्त्रियों ने उन प्रक्रियाओं का उल्लेख नहीं किया जिनकी प्रकृति स्वयं व्यक्तियों तथा समूहों की प्रस्थिति सम्बन्धी

विशेषताओं से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिये, गतिशीलता, स्तरीकरण, सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा तथा सामाजिक सन्तुलन आदि इसी तरह की प्रक्रियायें हैं।

सामाजिक पारिस्थितिकी के उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर डॉ0 मुकर्जी ने यह स्पष्ट किया कि साामाजिक पारिस्थितिकी में एक क्षेत्र की उन सभी भौगोलिक, जनसंख्यात्मक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का समावेश होता है जो किसी समुदाय को एक विशेष चरित्र प्रदान करती है। पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण की अवधारणा एक दूसरे से भिन्न है। पर्यावरण का तात्पर्य उन सभी दशाओं की सम्पूर्णता से है जो एक व्यक्ति के जीवन को चारों ओर से प्रभावित करती है। इसका अर्थ यह है कि पर्यावरण की प्रकृति वैयक्तिक भी हो सकती है और सामूहिक भी।

सामाजिक पारिस्थितिकी की उपयोगिता–

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी का मानना था कि सामाजिक पारिस्थितिकी ही वह महत्वपूर्ण आधार जिसकी सहायता से विभिन्न क्षेत्रों को आत्मनिर्भर बनाकर उनका सन्तुलित विकास किया जा सकता है। जब हम सामाजिक पारिस्थितिकी पर ध्यान नहीं देते तो विभिन्न क्षेत्रों का समुचित नियोजन नहीं हो पाता। यदि एक बार कोई क्षेत्र सामाजिक या आर्थिक रूप से पिछड़ जाता है तो उस पर विकसित क्षेत्रों का प्रभाव बढ़ने लगता है। यहीं से देशों में असन्तुलित विकास की समस्या पैदा हो जाती है।

सामाजिक परिस्थिति विज्ञान तथा पारिस्थितिकी के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समुदाय की जीवन–पद्धति, रहन–सहन, व्यवसाय के तरीके, मनोवृत्तियाँ, व्यवहार के ढंग तथा परम्परायें आदि वहाँ की भौगोलिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं से प्रभावित होती है। इसके लिए कोई व्यक्ति विशेष जिम्मेदार नहीं होता।

सामाजिक पारिस्थितिकी का अध्ययन सामाजिक सन्तुलन के लिये भी महत्वपूर्ण है। यदि हम किसी समुदाय की सामाजिक पारिस्थितिकी पर ध्यान दिये बिना लोगों को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर बसा देते हैं तो इससे सामाजिक संरचना कमजोर पड़ जाती है। सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की सही जानकारी न होने के कारण उन्हें ऐसे स्थानों पर बसा दिया जाता है जहाँ की परिस्थितियाँ उनके परम्परागत जीवन से मेल नहीं खाती। इससे अक्सर उनके जीवन में विघटनकारी तत्वों का समावेश होने लगता है। डॉ0 मुकर्जी ने उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में जजमानी व्यवस्था का उदाहरण देते हुए लिखा है कि जब स्थानीय गतिशीलता बढ़ने से एक गाँव के लोग किसी दूसरे गाँव या नगर में जाकर रहना आरम्भ करते हैं तो वहाँ की परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण वे अपने परम्परागत व्यवसाय से वंचित हो जाते हैं। इससे सामाजिक असन्तुलन को प्रोत्साहन मिलता है। यदि हम सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की सहायता से पहले से ही एक वैकल्पिक योजना बना ले तो इस तरह के विघटन से बचा जा सकता है।

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार भारतीय समाज का लम्बा इतिहास मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित रहा है। अतः भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के लिए केवल तात्कालिक समस्यायों को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए। आज औद्योगीकरण के कारण समाज में मानवीय मूल्यों का जिस तेजी से ह्रास हो रहा है, उसका समाधान करना आवश्यक है। यह कार्य सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की सहायता से ही संभव हो सकता है।

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी ने सबसे पहले अपनी पुस्तक 'क्षेत्रीय समाजशास्त्र' (Regional Sociology) के नाम से लिखी थी। उनका विचार था कि राष्ट्रीय विकास के लिये क्षेत्रीय समस्याओं को समझकर उनका सन्तुलित विकास करना आवश्यक है। उनके अनुसार, भारत में यदि विभिन्न क्षेत्रों का विकास उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए किया जाये तो इससे सम्पूर्ण देश का विकास होगा। भारत में अलग–अलग क्षेत्रों की परिस्थितियाँ अलग–अलग है तथा सभी का एक भिन्न नृजातीय इतिहास हे। यदि विकास की दिशा में कुछ क्षेत्र दूसरों से आगे निकल जायेंगे तो विकसित क्षेत्रों का अविकसित क्षेत्रों पर प्रभुत्व बढ़ जायेगा। प्रत्येक क्षेत्र का आर्थिक विकास यदि उसकी सामाजिक पारिस्थितिकी को ध्यान में रखते हुए किया जाये तो एक आदर्श सन्तुलन बनाया जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डॉ0 मुकर्जी वह पहले भारतीय समाजशास्त्री थे जिन्होंने क्षेत्रीय समाजशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट करने के साथ ही सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा की विस्तृत

विवेचना की। उन्होंने जिस समय समाजशास्त्र विषय पर लेखन कार्य आरम्भ किया था, भारत में समाजशास्त्र विषय का न कोई स्वतंत्र अस्तित्व था और न ही विषय की अवधारणायें अधिक स्पष्ट थी। ऐसे परिदृश्य में डॉ0 मुकर्जी में भारतीय समाज के सन्दर्भ में सामाजिक पारिस्थितिकी के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये, वे समाजशास्त्र के लिये निश्चय ही उनकी महत्वपूर्ण देन है।

मूल्यों की सामाजिक संरचना (Social Structure of Values)-

मूल्यों की सामाजिक संरचना के बारे में राधाकमल मुकर्जी के विचार उनकी दो प्रमुख पुस्तकों 'The Social Structure of Values' एवं 'The Dimensions of Values' में देखने को मिलते हैं। प्रथम पुस्तक में आपने मूल्यों की सामाजिक संरचना का एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए मूल्यों की उत्पत्ति, मूल्यों के मनो–सामाजिक नियमों एवं मूल्यों के संरक्षण की विवेचना की है। दूसरी पुस्तक में आपने मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, जीवविज्ञान और यहाँ तक कि तत्व–मीमांसा में दी गयी मूल्यों से सम्बन्धित विवेचना के बीच एक समन्वय स्थापित करते हुये मूल्यों की सार्वभौमिक आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने लिखा कि जब तक मूल्यों के बारे में एक सार्वभौमिक विचार को स्वीकार न कर लिया जाये, तब तक मानव जाति की वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। उनका यही विचार उस सिद्धान्त का आधार है जिसे मूल्यों का एकीकृत सिद्धान्त (Integrated Theory of Values) भी कह दिया जाता है।

मूल्यों का अर्थ–

मूल्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है, ''मूल्य सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ अथवा लक्ष्य है जिनका सामाजिक सीख या समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति के जीवन में अन्तरीकरण हो जाता है और इस प्रकार यह भावनात्मक आधार पर हमारी प्राथमिकताएँ, मानदण्ड और आकांक्षायें बन जाती है।''

वास्तव में, व्यक्ति समाज के अन्दर अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अन्तःक्रियाएँ ही नहीं करते बल्कि इस बात का भी ध्यान रखते है कि आवश्यकताओं को किन साधनों के द्वारा पूरा किया जाये तथा विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हमारे द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों के प्रति समाज का दृष्टिकोण क्या है? इसका तात्पर्य यह है कि 'उद्देश्य' तथा 'आदर्श' दोनों ही मानव व्यवहारों को प्रभावित करते है। ऐसे व्यवहारों के लिए व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन बहुत असुरक्षित बन सकता है। इस स्थिति का समाधान करने के लिए समाज में सांस्कृतिक आधार पर कुछ ऐसे मानदण्ड विकसित हो जाते हें जो विभिन्न सामाजिक प्रतिमानों को एक विशेष अर्थ में स्पष्ट करते हैं। व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान एक विशेष क्रिया अथवा व्यवहार के इस अर्थ को अपने व्यक्तित्व में अन्तरीकरण कर लेता है।

मूल्य ही इस बात का निर्धारण करते है कि व्यक्ति के लिये कौन–सा व्यवहार नैतिक है और कौन सा अनैतिक; कौन से व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण है और कौन कम महत्वपूर्ण अथवा किन दायित्वों के द्वारा हम सामाजिक इच्छाओं अथवा प्रत्याशाओं को पूरा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय समाज में विवाह, परिवार, मित्रता तथा आतिथ्य ऐसे सामाजिक तथ्य है जिनका हमारी संस्कृति के अनुसार एक विशेष अर्थ है तथा इनमें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक ऐसी आकांक्षाओं का समावेश है जिनकी पूर्ति की हमसे आशा की जाती है।

मूल्यों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर मुकर्जी ने लिखा है कि ''मूल्य एक जटिल सम्पूर्णता है, यह चेतन प्राणिशास्त्रीय आदर्श दशा है।'' यह एक जटिल सम्पूर्णता इस अर्थ में है कि मानव–व्यवहारों का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो किसी न किसी मूल्य से प्रभावित न होता हो। मनुष्यों में मूल्यों के अनुसार व्यवहार करने की कोई जन्मजात प्रवृत्ति नहीं होती। मूल्यों की प्रकृति इसी कारण चेतन है क्योंकि उनका सम्बन्ध सीख की प्रक्रिया के साथ तथा सामाजिक जीवन के अनुभवों के साथ होता है। मूल्य यद्यपि हमारी सामाजिक और प्राणीशास्त्रीय दोनों तरह की आवश्यकताओं का पूरा करते हैं लेकिन इसके बाद भी इनका सम्बन्ध एक ऐसी आदर्श दशा से है जिसमें सामाजिक लक्ष्य और इच्छाओं का समावेश होता है। इस आधार पर मुकर्जी ने लिखा है कि ''समाज मूल्यों का ही एक संगठन है।''

मुकर्जी के अनुसार मूल्य की प्रकृति सम्पूर्णतावादी होती है।

मूल्यों की विशेषतायें–

1. सार्वभौमिकता–

मूल्यों की प्रकृति इस अर्थ में सार्वभौमिक है कि सभी स्थानों तथा संस्कृतियों से सम्बन्धित समुदायों तथा समूहों के अपने कुछ मूल्य अवश्यक होते हैं।

2. गतिशीलता–

मूल्य एक स्थिर तथ्य नहीं है। समय की आवश्यकता के अनुसार इनकी प्रकृति में भी कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। उदाहरण के लिये, मध्यकाल में अन्तर्विवाह, जाति के नियमों, संयुक्त परिवार तथा पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति से सम्बन्धित जो मूल्य अधिक प्रभावपूर्ण थे, उनमें आज एक स्पष्ट परिवर्तन हो चुका है।

3. प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति–

हर समाज कुछ प्रतीकों के द्वारा सामान्य व्यक्तियों को अपने मूल्यों से परिचित कराता है। विवाह के समय अग्नि के लिये दी जाने वाली आहुतियाँ, चारों दिशाओं में रखे जाने वाले कलश, लाजाहोम तथा सप्तपदी आदि वे प्रतीक है जो एक स्थायी बन्धन के रूप में विवाह के धार्मिक अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

4. मूल्यों में प्रतिस्पर्द्धा–

एक ही समाज में जब पुरातन और नये मूल्य साथ–साथ क्रियाशील होते हैं, तब उनके बीच प्रतिस्पर्द्धा की दशा उत्पन्न हो जाती है।

5. मान्यता प्राप्त लक्ष्य–

मूल्य वे तथ्य है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों तथा इच्छाओं को स्पष्ट करते हैं।

6. आत्मिक स्वीकृति–

मूल्यों का अन्तरीकरण करने के लिए व्यक्ति को न तो बाध्य किया जा सकता है और न ही उस पर विभिन्न संस्थाओं के द्वारा ऐसा करने के लिए कोई दबाव डाला जा सकता है।

7. सामाजीकरण द्वारा अन्तरीकरण–

मूल्यों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि व्यक्ति इन्हें सामाजिक–अन्तर्क्रिया और समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान एक सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त करता है।

मूल्यों की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्य ही वे तथ्य है जो व्यवहार सम्बन्धी संस्कारों, आदतों तथा वैयक्तिक मनोवृत्तियों का निर्माण करते हैं।

मूल्यों का वर्गीकरण–

मुकर्जी ने सभी मूल्यों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया–

1. साध्य मूल्य–

साध्य मूल्य वे है जिनका सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक जीवन से होता है। ऐसे मूल्य स्वयं में पूर्ण होते हैं। यह मूल्य व्यक्ति को जीवन के उच्च आदर्शों के अनुसार व्यवहार करने तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं। उदाहरण के लिए, सत्य, न्याय, दूसरों की सहायता तथा दया आदि साध्य मूल्य है।

2. साधन सम्बन्धी मूल्य–

यह मूल्य वे हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति की अस्तित्व सम्बन्धी आवश्कताओं से होता है, इसलिए इन्हें 'अस्तित्व सम्बन्धी मूल्य' भी कहा जाता है। यह मूल्य उन साधनों को स्पष्ट करते है जिनके द्वारा व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त ढंग से अपनी सांसारिक अथवा लौकिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है।

मूल्य तथा गैर–मूल्य–

डॉ0 राधाकृष्ण मुकर्जी ने मूल्यों की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए गैर–मूल्यों से अन्तर भी स्पष्ट किया है। साधारण शब्दों में समाज के नकारात्मक मूल्य ही गैर–मूल्य कहे जाते हैं। अपनी निजी भावनाओं, अनुभवों तथा स्वार्थों के कारण यदि हम इस तरह के मूल्यों को स्थापित करने का प्रयत्न करने लगें कि परिश्रम करने वाले व्यक्ति का शोषण होता है, विपत्ति में सत्य का आचरण उचित नहीं है, खून का बदला खून है, अस्पृश्यता शास्त्रसम्मत है अथवा यह कि नारी स्वतंत्रता से अनैतिकता में

वृद्धि होती है तो यह सभी विचार गैर–मूल्यों को स्पष्ट करते हैं। स्पष्ट है कि गैर मूल्य भ्रान्त तर्कों पर आधारित होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति उन व्यक्ति अथवा संगठनों के द्वारा होती है जो सामाजिक संहिताओं का उल्लंघन करने वाले होते हैं।

मूल्यों का संस्तरण–

राधाकमल मुकर्जी ने यह स्पष्ट किया कि सभी मूल्य समान प्रकृति और समान स्तर के नहीं होते बल्कि उनके बीच एक विभाजन और संस्तरण देखने को मिलता है। वास्तव में, विभिन्न मूल्यों के गुणों के आधार पर इन्हें तीन आयामों अथवा भागों में विभाजित किया जा सकता है– जैविक मूल्य, सामाजिक मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य।

जैविक मूल्यों का सम्बन्ध– जीवन–निर्वाह, स्वास्थ्य, वैयक्तिक कुशलता तथा शारीरिक सुरक्षा से सम्बन्धित मूल्यों से होता है। सामाजिक मूल्य व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति, सम्पत्ति, सामाजिक न्याय और सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति से सम्बन्धित होते है। आध्यात्मिक मूल्य सत्य, पवित्रता, सौन्दर्य तथा सतसंगति जैसे विषयों से सम्बन्धित होते हैं। डॉ0 मुकर्जी ने लिखा है कि इन तीनों तरह के मूल्यों में आध्यात्मिक मूल्य का स्थान सबसे उँचा है क्योंकि यह मूल्य व्यक्ति को इस तरह की प्रेरणा देते हैं जिससे वह अपने आप को एक श्रेष्ठ मानव के रूप में स्थापित कर सके। इस आधार पर आध्यात्मिक मूल्य साध्य मूल्य है। डॉ0 मुकर्जी ने

अपनी पुस्तक 'The Dimension of Values' में इन तथ्यों को निम्नांकित सारणी द्वारा प्रस्तुत किया है–

मूल्यों का संस्तरण

	मूल्यों के आयाम	मूल्यों के गुण	मूल्यों का संस्तरण
1.	जैविक मूल्य– स्वास्थ्य, कुशलता, सुरक्षा तथा जीवन की निरन्तरता	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य, क्रियात्मक मूल्य	जीवन निर्वाह तथा शारीरिक विकास (तृतीय स्थान)
2.	सामाजिक मूल्य– प्रस्थिति, सम्पत्ति, सदाचार तथा न्याय	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य, क्रियात्मक मूल्य	सामाजिक संगठन तथा व्यवस्था (द्वितीय स्थान)
3.	आध्यात्मिक मूल्य– सत्य पवित्रता सौन्दर्य तथा सत्संगति	साध्य मूल्य, आन्तरिक मूल्य, लोकातीत मूल्य	आत्म परिष्कार एवं आत्म श्रेष्ठता (सर्वोच्च स्थान)

मूल्यों का महत्व अथवा प्रकार्य–

राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक चिन्तन में मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने समाज को मूल्यों का एक संगठन कहा है। डाक्टर

मुकर्जी ने विभिन्न क्षेत्रों में मूल्यों के जिन मुख्य प्रकार्यों पर प्रकाश डाला, उन्हीं के संदर्भ में इसके महत्व को समझा जा सकता है–

1. सामाजिक व्यवस्था तथा सन्तुलन–

हमारे सामाजिक जीवन का निर्माण अनेक पक्षों से होता है। इन सभी पक्षों से सम्बन्धित विभिन्न मूल्य ही इन्हें एक–दूसरे से बाँधे रहते हैं। मूल्यों, सद्‌गुणों तथा आदर्शों के बिना समाजों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है।

2. सामाजिक एकरूपता तथा एकता–

मूल्यों का विकास सामूहिक एकमत के आधार पर होता है, इसलिए इन्हें सम्पूर्ण समाज की मान्यता मिल जाती है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के मूल्यों के अनुसार ही व्यवहार करता है तो इससे समाज में एकरूपता को प्रोत्साहन मिलता है।

3. व्यक्ति का मानवीकरण–

जन्मजात रूप से मनुष्य में वह सभी प्रवृत्तियाँ है जो पशुओं में पायी जाती है। मूल्य ही वह महत्वपूर्ण आधार है जिसकी सहायता से मानव की पशु–प्रवृत्तियों के प्रभाव को कम करके उसमें मानवीय विशेषताओं को विकसित किया जाता है।

4. व्यवहारों का निर्देशन–

मूल्यों की प्रकृति सामूहिक होने के कारण इनमें अनिवार्यता तथा बाध्यता का समावेश होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मूल्य व्यक्ति पर इस बात का दबाव डालते हैं कि वे उन्हीं के अनुसार व्यवहार करें।

5. वैयक्तिक अनुकूलन में सहायक–

मूल्य समाज के महत्वपूर्ण लक्ष्यों का निर्धारण करते है तथा प्रत्येक परिस्थिति तथा क्रिया के अर्थ स्पष्ट करते हैं। इससे व्यक्ति सरलतापूर्वक यह समझ लेता है कि किसी परिस्थिति को किस दृष्टिकोण से देखना उचित है तथा उसके समूह में एक विशेष व्यवहार का क्या अर्थ है? इसके फलस्वरूप, व्यक्ति में मानसिक तनावों और संघर्षों की संभावना कम से कम हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि मूल्य व्यक्ति के सामाजिक अनुकूलन में ही सहायत नहीं होते बल्कि व्यक्ति को स्वयं अपने व्यक्तित्व के अनुकूलन करने में भी सहायता देते हैं।

6. सांस्कृतिक स्थायित्व–

प्रत्येक समाज की संस्कृति के निर्माण में मूल्यों का विशेष योगदान होता है। एक समाज के सदस्य न केवल अपने मूल्यों में विश्वास करते हैं बल्कि सीख की प्रक्रिया के द्वारा आगामी पीढ़ियों के लिए अनका संचरण भी कर दिया जाता है। इससे संस्कृति को स्थायित्व मिलता है।

7. व्यक्तित्व का एकीकरण–

डॉ0 मुकर्जी ने स्पष्ट किया है कि व्यक्तित्व के निर्माण तथा संगठन में भी मूल्यों का महत्व बहुत अधिक है। एक और विभिन्न मूल्य व्यक्ति को आत्मिक संतुष्टि प्रदान करके उसके व्यक्तित्व को संगठिन रखते हैं तो दूसरी ओर, यह व्यक्ति को अपनी सामाजिक दशाओं तथा संस्थाओं से अनुकूलन करने का अवसर देकर उसके व्यक्तित्व को सन्तुलित बनाते हैं। यही कारण है कि एक समाज की व्यक्तित्व–व्यवस्था बहुत बड़ी सीमा तक उसकी मूल्य व्यवस्था के अनुसार ढल जाती है।

इस आधार पर राधाकमल मुकर्जी ने यह निष्कर्ष दिया है कि प्रत्येक समाज का अस्तित्व उसके मूल्यों पर ही आधारित होता है। डॉ0 मुकर्जी के अनुसार श्रेष्ठ मूल्य ही सुसंस्कृत समाज का प्रमुख लक्षण है।

वास्तव में, समाजशास्त्र के लिये डॉ0 मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत मूल्यों के सिद्धान्त वह महत्वपूर्ण आधार है जिसके प्रभाव से आज 'मूल्यों के समाजशास्त्र' (Sociology of Values) के रूप में समाजशास्त्र की एक नयी शाखा तेजी से विकसित होती जा रही है।

अध्याय–2

डी0पी0 मुकर्जी (1894–1962)

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन के प्रारम्भिक स्तर पर इसके स्वरूप का निर्धारण करने तथा समाजशास्त्र को विकसित करने के लिये धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। डी0 पी0 मुकर्जी ने जब सन् 1922 में अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग में प्रवक्ता के रूप में काम करना आरम्भ किया, उस समय राधाकमल मुकर्जी इस विभाग के अध्यक्ष थे। डी0 पी0 मुकर्जी अपने आपको स्वयं मार्क्सवादी मानते थे लेकिन एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण उनके चिन्तन पर भारतीय संस्कृति का भी स्पष्ट प्रभाव था। इसी कारण उन्होंने मार्क्स के अनेक सिद्धान्तों को भारतीय परम्पराओं के साथ जोड़कर उनका विश्लेषण किया।

अनेक समाजशास्त्रियों का विचार है कि भारत में 'संस्कृति का समाजशास्त्र' (Sociology of Culture) स्थापित करने का श्रेय डी0पी0 मुकर्जी को है। किसी भी विषय पर लिखते वक्त वह आलोचनात्मक शैली का अधिक प्रयोग करते थे। उनकी दृष्टि में कला, संगीत था नाटक भी संस्कृति के अंग थे, इसलिये उन्होंने इन क्षेत्रों में भी आलोचनात्मक लेख लिखे। इसके बाद भी उन्होंने लेखन की जगह वार्तालाप तथा व्याख्यानों के माध्यम से अपने विचारों को स्पष्ट करने पर अधिक बल दिया।

सन् 1932 में 'समाजशास्त्र में मूल अवधारणाएँ' (Basic Concepts in Sociology) नाम से एक पुस्तक लिखी जो किसी भारतीय समाजशास्त्री द्वारा मौलिक अवधारणाओं पर लिखी जाने वाली सम्भवतः पहली पुस्तक थी।

एक निर्भीक और स्पष्टवादी प्राध्यापक होने के कारण उन्होंने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजशास्त्र के विकास में विशेष योगदान दिया। 'भारतीय समाजशास्त्रीय संगठन' (Indian Sociological Association) की स्थापना में भी उन्होंने विशेष रूचि ली। वह न केवल इस एसोशिएशन के संस्थापक सदस्यों में से एक थे बल्कि इसकी प्रबन्ध समिति तथा सम्पादक मण्डल के भी सक्रिय सदस्य रहे। इण्डियन सोशियोलॉजिकल एसोशिएशन के प्रतिनिधि के रूप में ही उन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संगठन' (International Sociological Association) के अधिवेशन में भाग लिया तथा उसके उपाध्यक्ष निर्वाचित हुये। प्रस्तुत विवेचन में हम प्रोफेसर डी0 पी0 मुखर्जी के विचारों को संक्षेप में स्पष्ट करेंगे।

समाजशास्त्र पर डी0 पी0 मुकर्जी के विचार–

मुकर्जी ने भारत के लिए एक ऐसे समाजशास्त्र की आवश्यकता पर बल दिया जिसके द्वारा प्रमुख सामाजिक विज्ञानों को एक–दूसरे का पूरक बनाया जा सके। उनके अनुसार सामाजिक जीवन को अलग–अलग भागों में बाँटकर उसका सम्पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता। यदि सामाजिक जीवन की वास्तविकता पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि

सामाजिक विज्ञानों के बीच आदान–प्रदान और पारस्परिकता का सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समन्वयवादी होना आवश्यक है। इसे दूसरे सामाजिक विज्ञानों से पूरी तरह पृथक् करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस आधार पर उन्होंने लिखा कि समाजशास्त्रीय व्याख्या का आधार एक सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण होना चाहिए।

जहाँ तक समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु का प्रश्न है, प्रोफेसर मुकर्जी ने भारत के लिए एक ऐसे समाजशास्त्र की आवश्यकता पर जोर दिया जिसमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा भारतीय परम्पराओं का अध्ययन किया जाये। भारतीय संस्कृति का विकास बहुत से प्रजातीय समूहों तथा संस्कृतियों की चुनौतियों तथा उनके समन्वय के फलस्वरूप हुआ। इन सांस्कृतिक विविधताओं तथा सांस्कृतिक समन्वय को समझना ही भारतीय समाज को समझने का सबसे अच्छा तरीका है। इस सन्दर्भ में डी0 पी0 मुकर्जी ने यह भी स्पष्ट किया कि व्यक्ति के समाजीकरण में परम्पराओं का प्रभाव सबसे अधिक होता है। भारतीय समाज की परम्परायें अनेक आन्तरिक और बाहरी दबावों के फलस्वरूप विकसित हुई है। विभिन्न दशाओं के प्रभाव से भारतीय परम्परा के रूप में समय–समय पर जो परिवर्तन होते रहे, उनका समाजशास्त्र में अध्ययन होना आवश्यक है।

डी0 पी0 मुकर्जी के अनुसार समाजशास्त्रीय विवेचन का मुख्य आधार मानव व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का निर्माण करना ही समाज का

मौलिक उद्देश्य होता है तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्नतायें ही समाज को विभिन्न समूहों तथा वर्गों में विभाजित करती है।

साधारणतया डी0 पी0 मुकर्जी को समाजशास्त्र की मार्क्सवादी विचारधारा से सम्बन्धित माना जाता है। पर यह उनके बारे में एक पक्षीय दृष्टिकोण है। यह सच है कि मुकर्जी ने मार्क्स के द्वन्द्ववाद का उपयोग अनेक सांस्कृतिक परिवर्तनों तथा सामाजिक–आर्थिक दशाओं को स्पष्ट करने के लिए किया लेकिन समाजशास्त्र की अध्ययन–पद्धतियों के बारे में उनके विचार मार्क्सवाद से पूरी तरह मेल नहीं खाते। उन्होंने अध्ययन की जिन पद्धतियों पर बल दिया उनमें तीन पद्धतियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं–

1. मनो–समाजशास्त्रीय पद्धति (Psycho-Sociological Method)

2. तार्किक द्वन्द्वात्मक पद्धति (Logical- Dialectical Method)

3. व्याख्यात्मक पद्धति (Interpretative Method)

मुकर्जी के अनुसार यदि हम एक एकीकृत समाजशास्त्र को विकसित करना चाहते हैं तो इसके लिए मनो–समाजशास्त्रीय पद्धति अधिक उपयोगी होगी। मनोवैज्ञानिक आधार पर सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति को समझने का प्रयास अध्ययन को सरल बना सकता है।

मुकर्जी के अनुसार संस्कृति की परिवर्तनशील प्रकृति को द्वन्द्ववादी पद्धति की सहायता से ही समझा जा सकता है। इसके बाद भी मुकर्जी की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आधार कल्पना या अनुमान न होकर तर्क तथा विवेक है।

आज अधिकांश शोधकर्ता यह मानने लगे है कि आनुभविक पद्धति के द्वारा क्षेत्र–कार्य से तथ्यों का संग्रह करके ही समाजशास्त्रीय अध्ययनों से उपयोगी निष्कर्ष दिये जा सकते हैं। डी0 पी0 मुकर्जी ने सामाजिक अनुसन्धान में आनुभविक पद्धति (Empirical Method) की उपयोगिता को अस्वीकार करते हुए, व्याख्यात्मक पद्धति के उपयोग पर बल दिया। समाजशास्त्र के लिये एक ऐसी व्याख्यात्मक पद्धति की आवश्यकता है जो शोधकर्ता के अवलोकन तथा अर्न्तदृष्टि पर आधारित हो। डी0 पी0 मुकर्जी द्वारा दिया गया यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसे आज पुनः अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डी0 पी0 मुकर्जी भारत के लिये एक ऐसे समाजशास्त्र को विकसित करने के पक्ष में रहे जो पश्चिम में समाजशास्त्र की परमपरा से भिन्न है। भारतीय समाज की संस्कृति, समस्यायें और परिस्थितियाँ पश्चिमी समाजों से भिन्न है। इसलिये उनके अनुसार भारत में सम्बन्धित अवधारणाओं की व्याख्या इस तरह करना जरूरी है जिससे इन अवधारणाओं के द्वारा भारतीय संस्कृति का सही विश्लेषण किया जा सके। इससे स्पष्ट है कि भारत में समाजशास्त्र के विकास के लिए डी0 पी0 मुकर्जी ने स्वतन्त्र चिन्तन पर बल दिया।

सांस्कृतिक विविधताएँ–(Cultural Diversities)

डी0 पी0 मुकर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Diversities' में भारत की सांस्कृतिक विविधता को विस्तार से स्पष्ट किया। उन्होंने सांस्कृतिक

विविधता को भारतीय समाज की एक ऐसी विशेषता के रूप में स्पष्ट किया जो बहुत लम्बे समय से भारतीय जनजीवन को प्रभावित करती रही हे। इसे स्पष्ट करने के लिये उन्होंने जिन प्रमुख विषयों पर विचार किया, उनमें 1. संस्कृति की अवधारणा, 2. ऐतिहासिक आधार पर भारतीय संस्कृति में मिश्रण तथा समन्वय, तथा 3. परम्परा एवं आधुनिकीकरण मुख्य है।

डी0 पी0 मुकर्जी के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रमुख केन्द्र संस्कृति है। संस्कृति से उनका अभिप्राय केवल कुछ विशेष परम्पराओं अथवा धार्मिक व्यवस्थाओं से नहीं था। उन्होंने लिखा कि भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है जिसका विकास बहुत से प्रजातीय समूहों तथा संस्कृतियों द्वारा दी गयी चुनौतियों का समाधान खोजने के प्रत्युत्तर से हुआ। विभिन्न युगों में इसी के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे तथा प्रत्येक युग में संस्कृति का एक नया संश्लेषित रूप स्थापित होता गया। उन्होंने भारतीय समाज को सांस्कृतिक समन्वय तथा आत्मसात की प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट किया। उनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता को स्पष्ट करना था। डी0 पी0 मुकर्जी का उद्देश्य संस्कृति के अन्तर्गत मुख्य रूप से हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों का विश्लेषण करना तथा ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय संस्कृति में पैदा होने वाली परिवर्तन की नयी प्रक्रियाओं को स्पष्ट करना था। उन्होंने संस्कृति तथा साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट

करके भी समाजशास्त्र में भारत की सांस्कृतिक विविधताओं का अध्ययन करने पर बल दिया।

हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध (Hindu-Muslim Relations)

यदि हम राजनीतिक आधार पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत में ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक हिन्दू–बहुल प्रजा पर मुसलमान बादशाहों ने शासन किया। इस बीच विभिन्न हिन्दू राजाओं और मुस्लिम शासकों के बीच अनेक सन्धियाँ होती रही। यह एक दूसरे से भिन्न संस्कृतियों वाले शासकों के बीच होने वाली साझेदारी और भाईचारे की दशा का स्पष्ट उदाहरण है। भारत में जब एक बड़े मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई तो राजनीतिक अस्थिरता कम होने के कारण यहाँ एक ऐसी संस्कृति विकसित होने लगी तो पहले की तुलना में अधिक समन्वित अथवा संश्लिष्ट थी।

इस काल में यदि हम आर्थिक सम्बन्धों के प्रश्न पर विचार करें तो भी हिन्दू और मुस्लिम वर्गों से सम्बन्धित बहुत से मुद्दों में काफी समानता स्पष्ट होती है। मुगल शासनकाल में सैनिक सरदार मुसलमान थे, जबकि अधिकांश जमींदार हिन्दू थे। इन दोनों वर्गों के बीच काफी समानता होने के कारण उनके बीच एक तरह का समझौता–सा हो गया। ग्रामीण जनता पूरी तरह उपेक्षित तथा शोषित थी। इसके बाद भी समाज में शोषित वर्ग में सांस्कृतिक चेतना की कमी तथा जागीरदारों के प्रभाव के कारण समाज में वर्ग–संघर्ष जैसी समस्या पैदा नहीं हुई।

सांस्कृतिक आधार पर साहित्य, वेशभूषा तथा कला के क्षेत्र में हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों ने एक–दूसरे को प्रभावित किया। उत्तर भारत में मुसलमानों का सूफी मत और हिन्दुओं का भक्ति सम्प्रदाय एक–दूसरे से निरन्तर प्रभावित रहे। मुकर्जी ने लिखा है कि इसके बाद भी व्यक्ति, राष्ट्र और पारलौकिकता के बारे में हिन्दुओं और मुसलमानों का दृष्टिकोण एक–दूसरे से काफी भिन्न रहा। हिन्दू विश्वासों के अनुसार व्यक्ति की प्रस्थिति को जन्म पर आधारित सामाजिक संस्तरण के अधीन माना गया जबकि मुस्लिम संस्कृति सामाजिक समानता में विश्वास करती रही। हिन्दू राष्ट्रवाद केवल भारत तक ही सीमित था जबकि इस्लाम का सम्बन्ध अनेक देशों से होने के कारण मुसलमानों ने अपनी संस्कृति को अनेक दूसरे राष्ट्रों के संदर्भ में देखा। पारलौकिक दृष्टिकोण से हिन्दू संस्कृति में जन्म तथा पुनर्जन्म का विश्वास होने के साथ ही सामान्य व्यक्ति अपने सुख–दुःख का कारण भाग्य को मानते रहे। इसके विपरीत, इस्लाम का जीवन–चक्र की परम्परा में कोई विश्वास न होने के कारण मुसलमान अवसरवादी रहे तथा किसी भी संकट का पूरा लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे। इन भिन्नताओं के बाद भी हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों ने परिवर्तन तथा समन्वय पर आधारित एक नयी संस्कृति को जन्म दिया।

पश्चिम का प्रभाव (Impact of the West)-

डी0 पी0 मुकर्जी कार्ल मार्क्स के विचार से सहमत थे कि समाज में होने वाला कोई भी परिवर्तन उत्पादन प्रणाली में होने वाले परिवर्तन का ही परिणाम होता है। परम्परागत रूप से भारत में आश्रम व्यवस्था, पुरूषार्थ

अथवा मोक्ष की अवधारणा को साधारणतया भारतीय संस्कृति के आधार के रूप में देखा जाता है लेकिन वास्तव में यह समाज के केवल आदर्श प्रारूप थे जिनका उत्पादन प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस्लाम ने भारतीय समाज को प्रभावित अवश्य किया लेकिन इसके फलस्वरूप या तो हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के बीच मिश्रण बढ़ा अथवा देशी और विदेशी की भावना के आधार पर देश के अनेक हिस्सों में मुस्लिम–विरोधी विद्रोह पैदा हुये। भारत में जब ब्रिटिश शासन आरम्भ हुआ तो इसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति तथा समाज का रूप तेजी से बदलने लगा। पश्चिम की संस्कृति एक भिन्न उत्पादन प्रणाली, वैचारिकता तथा जीवन–पद्धति पर आधारित थी। इस सन्दर्भ में डी0 पी0 मुकर्जी ने मार्क्स के कुछ विचारों को उद्धत करते हुए लिखा कि आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण के रूप में अंग्रेजों ने ही भारतीय संस्कृति में परिवर्तन की एक नयी प्रक्रिया आरम्भ की। इस सन्दर्भ में मुकर्जी ने अंग्रेजों द्वारा भारतीय संस्कृति में किये जाने वाले आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक तथा सामाजिक परिवर्तन पर भी विस्तार से प्रकाश डाला।

भारत में अंग्रेजी शासन आरम्भ होने पर पुरानी भूमि–व्यवस्था को समाप्त करके इसकी जगह एक नयी भूमि व्यवस्था लागू की गयी। आवागमन की सुविधाएँ बढ़ने से ग्रामीण अर्थव्यवस्था नगरीय अर्थव्यवस्था से जुड़ने लगी। एक नयी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना होने से लोगों को अपने इतिहास, राजनीति और भौगोलिक दशाओं को जानने का अवसर

मिला। पश्चिमी दर्शन के प्रभाव से भारतीयों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने के साथ ही धीरे–धीरे उनमें अपने अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ने लगी। इस समय उन विचारों को अधिक महत्व दिया जाने लगा जो अन्धविश्वासों पर आधारित न होकर तर्क पर आधारित थे। पश्चिमी संस्कृति के फलस्वरूप ही भारत की परम्परागत संस्थाओं का नये सिरे से मूल्यांकन किया जाने लगा तथा समाज में जातिगत भेदभावों, स्त्रियों के शोषण एवं अनुपयोगी सामाजिक संस्थाओं के विरूद्ध एक नया समाज–सुधार आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस काल में अनेक ऐसे धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ जो मानवतावाद पर आधारित थे। अंग्रेजी शासनकाल में भारत पहली बार एक संगठित राष्ट्र के रूप में सामने आया। इसी के फलस्वरूप यहाँ एक नयी राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा। जब ईसाई मिशनरियों ने यहाँ मानवतावाद पर आधारित ईसाई धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया तो इससे धर्म तथा संस्कृति के बारे में लोगों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। देश में अनेक ऐसे संगठनों की स्थापना होने लगी जिनका उद्देश्य कुप्रथाओं का विरोध करना, नारी शिक्षा एवं नारी स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देना, सवर्णों को दलित जातियों के सम्पर्क में लाना तथा अपने अधिकारों के लिये लोगों की चेतना को जगाना था। प्रोफेसर मुकर्जी का विचार था कि भारत में 19वीं शताब्दी का पुनर्जागरण पश्चिमी संस्कृति के ही प्रभाव का परिणाम था। इसी के फलस्वरूप भारत में एक नये मध्यम वर्ग का उदय हुआ जिसने यहाँ की परम्परागत

जीवन–पद्धति को एक नया अर्थ दिया। इसी के फलस्वरूप भारत में एक बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हो सका।

मुकर्जी के अनुसार पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का एक मुख्य कारण यहाँ के वो सामाजिक आन्दोलन थे जो पश्चिमी बुद्धिवाद से प्रभावित थे। इस कार्य में राजा राम मोहन राय ने विशेष योगदान किया। राजा राम मोहन राय हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई दर्शन से पूरी तरह परिचित थे। उनकी स्वयं धर्म में आध्यात्मिक आस्था थी लेकिन वह स्वयं धर्म के उन्हीं पक्षों को स्वीकार करने के पक्ष में थे जिन्हें तर्क तथा मानवतावाद के आधार पर समझा जा सके। इसी कारण उन्होंने बाल–विवाह तथा सती प्रथा का व्यापक विरोध किया। उन्हीं के प्रयत्नों से प्रभावित होकर यहाँ 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज', 'आर्य समाज' तथा थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाओं की स्थापना हुयी। इन सभी ने हिन्दू समाज की उन कुरीतियों, कर्मकाण्डों तथा सामाजिक मूल्यों का व्यापक विरोध किया जिन्हें संस्कृति तथा धर्म के नाम पर एक लम्बे समय तक संरक्षण दिया जाता रहा। मुकर्जी के अनुसार रविन्द्रनाथ टैगोर ने भी यह स्वीकार किया कि भारतीयों के दृष्टिकोण को बदलने में पश्चिमी संस्कृति की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। भारतीयों का जो दृष्टिकोण पूरी तरह जाति व्यवस्था पर आधारित था वह वैयक्तिक स्वतंत्रता के रूप में बदलता जा रहा है।

पश्चिम के प्रभाव से भारतीय संस्कृति में होने वाले परिवर्तन कभी निर्बाध नहीं रहा। यहाँ के अधिकांश बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों ने समय–समय पर पश्चिमी संस्कृति के मशीनीकरण का इसलिये व्यापक विरोध किया क्योंकि मशीनों के द्वारा उत्पादन होने से यहाँ की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विघटन हो सकता था। मुकर्जी के अनुसार पश्चिम के प्रभाव से भारत में विभिन्न वर्गों के उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन अवश्य हुआ लेकिन मशीनीकरण के विरोध के कारण ही यहाँ एक विकेन्द्रित तथा सहकारिता पर आधारित अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान एक नये समाज के निर्माण से सम्बन्धित जो कार्यक्रम बनाये गये, वे भी किसी न किसी रूप में पश्चिमी संस्कृति के दर्शन से प्रभावित थे। इस प्रकार संस्कृति को एक नया रूप देने में पश्चिम के विचारों का निश्चय ही एक विशेष योगदान रहा।

संस्कृति तथा आर्थिक विकास (Culture and Economic Development)–

अर्थशास्त्र में प्रशिक्षित होने के बाद भी अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक विकास के प्रति डी0 पी0 मुकर्जी का दृष्टिकोण दूसरे अर्थशास्त्रियों से भिन्न था। उन्होंने भारत के आर्थिक विकास को यहाँ की सांस्कृतिक विशेषताओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा कि किसी समाज की अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक विकास को उसके सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक संगठन की प्रकृति से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यदि हम भारत की प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में देखें तो स्पष्ट होता है कि

प्राचीन काल में भूमि पर किसान का ही स्वामित्व होता था, यद्यपि राज्य द्वारा दिये जाने वाले संरक्षण के बदले किसान को अपनी उपज का एक भाग राजकोष में देना होता था। जब यहाँ बौद्ध धर्म को मानने वाले राजाओं का प्रभाव बढ़ा, तब कृषि भूमि बौद्ध संघों के नियन्त्रण में रहती थी। यह बौद्ध संघ किसान से उसकी उपज का छठा भाग राजस्व के रूप में लेते थे तथा इस तरह से प्राप्त होने वाली धनराशि का उपयोग ज्ञान के प्रसार तथा समाज की नैतिक प्रगति के लिये किया जाता था। गाँवों की संरचना भी नातेदारी समूहों तथा कुछ विशेष जाति–समूहों के द्वारा होती थी। ऐसे समूह काफी संगठित होकर कृषि कार्य करते थे।

प्राचीनकाल से लेकर मुगल काल तक व्यापार तथा वाणिज्य पर भी भारत की सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव देखने को मिलता है। इस समय व्यापार का प्रबन्ध कुछ विशेष जाति समूहों द्वारा किया जाता था तथा राज्य द्वारा सामान्यतः इनके कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। इन जाति समूहों में भी कुछ नातेदारी समूहों के अपने बड़े–बड़े व्यापारिक संगठन थे जो एक विशेष क्षेत्र में अपने व्यापार का संचालन करते थे।

भारत के पश्चिमी तट पर कुछ विशेष समूहों को रूपया उधार देने का कार्य अनेक ऐसे महाजनों द्वारा किया जाता था जिनकी राज दरबार में एक विशेष प्रतिष्ठा होती थी। डी0 पी0 मुकर्जी के अनुसार यह व्यापारी किसी का भी अनुचित शोषण करने के लिए स्वतंत्र नहीं थे बल्कि उन्हें नगरीय तथा देहाती क्षेत्रों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किसी आकस्मिक विपत्ति के समय व्यापार तथा वाणिज्य का प्रबन्ध करने वाले समूह ही राजकोष में अधिक धन देकर आर्थिक साधन जुटाने में राजा की मदद करते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि भारत की हस्तशिल्प और मूल्यवान वस्तुओं का विदेशों में प्रदर्शन करके यहाँ के आर्थिक विकास में व्यापारी वर्ग का विशेष योगदान रहा। अंग्रेजी शासनकाल के दौरान जब व्यापारी वर्ग अपनी संस्कृति से अलग हट गया, केवल तभी यहाँ दुर्बल वर्गों का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ।

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भारत की अर्थव्यवस्था में जो व्यापक परिवर्तन हुये, वे भी नयी संस्कृति के प्रभाव को ही स्पष्ट करते हैं। पश्चिम की संस्कृति ग्राम प्रधान न होकर एक नगरीय संस्कृति है। भारत में जैसे–जैसे पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव बढ़ा, यहाँ की प्राचीन सांस्कृतिक संस्थायें कमजोर पड़ने लगी। इस समय व्यापार तथा वाणिज्य को कुछ विशेष जाति समूहों से अलग कर दिया गया। इसके फलस्वरूप विभिन्न समूहों के लिए नये सिरे से सामाजिक तथा आर्थिक अनुकूलन करना आवश्यक हो गया। पश्चिम की संस्कृति के प्रभाव से नगरों में स्थित मध्यम वर्ग का महत्व बढ़ने लगा। यह वर्ग पश्चिमी विचारों और रहन–सहन के पश्चिमी ढंग से अधिक प्रभावित था। अपनी महत्वाकांक्षाओं के कारण इसी वर्ग के द्वारा आर्थिक शोषण को प्रोत्साहन मिला।

संस्कृति एवं साहित्य (Culture & Literature)-

डी0 पी0 मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'Diversities' में यह स्पष्ट किया कि एक विशेष अवधि में लिखा जाने वाला साहित्य उस समय की सांस्कृतिक विशेषताओं तथा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से ही प्रभावित होता है। इस दृष्टिकोण से किसी समाज की सांस्कृतिक विविधता को समझने के लिये वहाँ के साहित्य को समझना भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उपयोगी हो सकता है। यदि साहित्य का विवेचन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के संदर्भ में किया जाये तो उससे सामाजिक विकास को एक नयी दिशा मिल सकती है। इस कार्य में सबसे बड़ी बाधा विभिन्न लेखकों द्वारा साहित्य की रचना अपनी–अपनी मातृभाषा में करना है जिसका लाभ सभी क्षेत्रों के लोगों को नहीं मिल पाता। यदि हम ऐसी शोध परियोजनाएँ आरम्भ करें जिससे विभिन्न भाषाओं के साहित्यकार एक मंच पर आकर अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकें तो इससे भारतीय साहित्य के समग्र रूप को समझा जा सकता है।

मुकर्जी का मत है कि प्राचीनकाल से संस्कृत भाषा के माध्यम से यहाँ एक ऐसे साहित्य का विकास हुआ जो उस समय की संस्कृति का सही निरूपण करता था। इसके बाद मुस्लिम शासन काल में जब हिन्दू ओर मुस्लिम संस्कृतियों के बीच आदान–प्रदान शुरू हुआ, तब यहाँ के साहित्य में भी परिवर्तन स्पष्ट होने लगा। उदाहरण के लिए; कबीर, गुरूनानक तथा अनेक सूफी सन्तों ने जिस साहित्य का सृजन किया,

उसमें हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति का एक मिला–जुला रूप देखने को मिलता है। मुस्लिम शासन के बाद भारत में जब ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुयी, तब उस समय लिखे जाने वाले साहित्य, उपन्यासों, कविताओं ओर नाटकों के द्वारा एक ओर राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला तो दूसरी ओर अन्धविश्वासों की जगह तर्क को प्रोत्साहन मिलने से अनेक कुप्रथाओं का खुलकर विरोध किया जाने लगा। ब्रिटिश काल के साहित्य ने सोयी हुई भारतीय जनता में एक नयी चेतना पैदा की। इस समय की संस्कृति में मानवतावादी मूल्यों की प्रधानता होने से ही जाति के बन्धन दुर्बल पड़ने लगे तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए एक वैज्ञानिक और सुधारवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ।

आधुनिकीकरण (MODERNIZATION)–

साधारणतया यह समझ लिया जाता है कि परम्परा और आधुनिकीकरण एक दूसरे से भिन्न दशायें हैं। प्रोफेसर मुकर्जी ने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान का अध्ययन अतीत के सन्दर्भ में ही हो सकता है। इस दशा में आधुनिकीकरण की अवधारणा को परम्परा से अलग करके नहीं समझा जा सकता है। जब तार्किक आधार पर संस्कृति में नयी शक्तियों का संचार होता है, तब समाज की परम्परा भी बदल जाती है। इस बदलती हुयी दशा को ही हम सरल शब्दों में आधुनिकीकरण कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से आधुनिकीकरण एक सापेक्षिक अवधारणा है जो परम्परा से सम्बन्धित है। उससे पृथक् और उसके विरूद्ध नहीं है। परम्परा

और नयी शक्तियों के प्रभाव से किसी समाज के सांस्कृतिक प्रतिमानों में जो परिवर्तन और विस्तार होता है उसी को हम आधुनिकीकरण कहते हैं। इस प्रकार आधुनिकीकरण का तात्पर्य परम्पराओं से मुक्ति पाना नहीं है बल्कि परम्पराओं में उपयोगी परिवर्तन लाना है। मुकर्जी के अनुसार आधुनिकीकरण का सम्बन्ध वैयक्तिकता तथा सामाजिकता के बीच सन्तुलन स्थापित होने से है। आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए डॉ0 मुकर्जी ने एक ओर परम्परा के अर्थ पर प्रकाश डाला तथा दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर परम्पराओं में होने वाले परिवर्तन के सन्दर्भ में आधुनिकीकरण की प्रकृति को स्पष्ट किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस तथ्य की भी विवेचना की कि भारतीय समाज के विकास के लिये आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल उपयुक्त नहीं है बल्कि भारतीय परम्परा के समूहवादी मूल्यों पर आधारित आधुनिकीकरण ही हमारे समाज के लिए अधिक उपयोगी है।

परम्परा की प्रकृति (Nature of Tradition)-

मुकर्जी ने मूल रूप से परम्परा को संस्कृति के एक उप लक्षण के रूप में स्वीकार किया। उनके अनुसार परम्परा एक सांस्कृतिक विरासत है जिसमें अनेक उपयोगी विचारों, मूल्यों तथा व्यवहार के तरीकों का समावेश होता है। परम्परा की उत्पत्ति तथा विकास एक प्रक्रिया के रूप में होता है लेकिन जब विचारों तथा व्यवहारों का कोई पुंज परम्परा का रूप ले लेता है, तब उसके अनुसार व्यवहार करना तथा उसका आदर करना व्यक्तियों

का कर्तव्य हो जाता है। साधारणतया परम्परा को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। यह सच है कि किसी समाज पर अपनी परम्परा का प्रभाव एक लम्बे समय तक बना रहता है लेकिन परम्परा को पूरी तरह एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि लोगों के अनुभवों में परिवर्तन होने के साथ ही पुरानी परम्परा का स्थान नयी परम्परा ले लेती है। परम्परा के संरक्षण के अनेक प्रयत्न होने के बाद भी परम्पराओं में परिवर्तन होते रहना एक ऐतिहासिक तथ्य है।

डा0 मुकर्जी ने लिखा है कि उन आन्तरिक तथा बाह्य दबावों को समझा जाये तो परम्पराओं में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। आन्तरिक रूप से परम्पराओं में एक ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वे व्यक्ति तथा समाज के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। सामंजस्य तथा समन्वय की यह क्षमता जैसे–जैसे कमजोर होने लगती है, परम्परा में परिवर्तन की दशायें पैदा होने लगती है। परम्पराओं के बाहरी दबाव को स्पष्ट करने के लिये मुकर्जी ने आर्थिक दबाव अथवा उत्पादन की प्रणाली में होने वाले परिवर्तन को मुख्य स्थान दिया। उदाहरण के लिये, भारतीय परम्परा में जाति विभाजन पर आधारित आर्थिक सम्बन्धों की प्रधानता थी। औद्योगीकरण के फलस्वरूप जब यहाँ उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन हुआ तो सामाजिक संस्तरण की प्रकृति अपने आप बदलने लगी।

परम्परा में होने वाले परिवर्तन को डी0 पी0 मुकर्जी ने तीन अन्य सिद्धान्तों के आधार पर भी स्पष्ट किया। इन्हें हम श्रुति, स्मृति तथा

अनुभव कहते हैं। परम्परा में परिवर्तन का मुख्य कारण वैयक्तिक तथा सामूहिक अनुभव हैं। यदि हम बौद्ध काल से लेकर धर्मशास्त्र काल तक तथा मध्य काल से लेकर आधुनिक काल तक के सांस्कृतिक इतिहास में देखें तो यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध, महावीर तथा बड़े–बड़े सन्तों के वैयक्तिक अनुभवों के प्रभाव से यहाँ नयी परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पुनः स्पष्ट होता है कि परम्परा की प्रकृति परिवर्तनशील होती है।

आधुनिकीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में (Modernization as Universal Process)-

डी0 पी0 मुकर्जी के अनुसार अक्सर आधुनिकीकरण को परम्परा की विरोधी दशा समझ लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि जिस तरह परम्परा का एक इतिहास होता है उसी तरह आधुनिकीकरण भी प्रत्येक युग में विद्यमान रहने वाली एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका अध्ययन एक सापेक्षिक प्रक्रिया के रूप में किया जाना चाहिए।

आधुनिकीकरण तथा व्यक्तित्व (Modernization & Personality)-

समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिये आधुनिकीकरण की प्रकृति का विश्लेषण इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि समाज में एक सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण आधुनिकीकरण से ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में डी0 पी0 मुकर्जी ने पश्चिमी देशों और भारत के परम्परागत मूल्यों की भिन्नता के आधार पर यह सुझाव दिया कि आधुनिकीकरण के द्वारा एक सन्तुलित व्यक्तित्व को तभी विकसित किया जा सकता है जब यह हमारी परम्पराओं

के अनुरूप हो। उन्होंने लिखा कि पश्चिम की परम्परा व्यक्तिवादी और तर्क को अधिक महत्व देती है। इस कारण वहाँ जन–साधारण के जीवन में सुधार लाने के लिए नयी प्रौद्योगिकी के विकास का अधिक से अधिक उपयोग करना आवश्यक समझा गया। पश्चिम की परम्परा इस मान्यता पर आधारित रही कि प्रकृति पर मानव के नियन्त्रण की क्षमता को बढ़ाकर ही उसका वैयक्तिक लाभ के लिये अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप आधुनिकीकरण में उन तत्वों का प्रभाव बढ़ने लगा जो एक सन्तुलित व्यक्तित्व को विकसित नहीं कर सके। व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास के लिए प्रौद्योगिकी का इस प्रकार विकास होना जरूरी है जो मानवीय स्वतंत्रता तथा सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके।

यूरोप में होने वाले पुनर्जागरण तथा औद्योगिक क्रान्ति ने वहाँ के समाज को मध्यकालीन परम्परा से मुक्त अवश्य कर दिया लेकिन साथ ही वहाँ उन मानवीय मूल्यों की उपेक्षा होने लगी जो एक सन्तुलित सामाजिक संरचना के लिए आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत के आधुनिकीकरण के लिए औद्योगिक विकास का पश्चिमी मॉडल उपयुक्त नहीं है। पश्चिम के प्रभाव से भारत के मध्यम वर्ग में जिस परम्परा का अनुकरण किया जाने लगा, उससे वह अपनी मौलिक विशेषताओं से अलग हट गया। यदि यहाँ का मध्यम वर्ग अपनी मौलिक परम्परा के अन्तर्गत

आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ता तो भारत एक आधुनिक और शक्तिशाली राष्ट्र बन सकता था।

वैयक्तिक विकास तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए डी0 पी0 मुखर्जी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि भारत में विकास योजनाओं के रूप में आधुनिकीकरण की प्रकृति हमारी अपनी परम्परा पर ही आधारित होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से डी0 पी0 मुकर्जी को एक ऐसा विचारक कहा जा सकता है जिन्होंने भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा पश्चिमी समाज के मॉडल को बिना किसी संशोधन के स्वीकार कर लेने का सदा विरोध किया। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति तथा परम्परा इतनी सशक्त है कि यदि हम इसके आधार पर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्राविधिक स्तर पर आधुनिकीकरण को एक स्वदेशी रूप दें तो प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रियों के लिए हम एक नया मॉडल दे सकते हैं। मुकर्जी के चिन्तन का यह वह पक्ष है जो उन्हें एक राष्ट्रवादी विचारक के रूप में स्थापित करता है।

आधुनिकीकरण एवं प्रौद्योगिक संस्कृति (Modernization & Technological Culture)-

प्रोफेसर मुकर्जी ने अपनी कृति 'Diversities' में आधुनिकीकरण के एक विशेष पक्ष के रूप में प्रौद्योगिक विकास एवं आधुनिकीकरण के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला। आधुनिकीकरण के लिए मशीनों और नयी प्रौद्योगिकी को अपनाना भारतीय समाज के लिए किस सीमा तक उचित या अनुचित है, उस बारे में उनके विचार महात्मा गाँधी से प्रभावित होने के

बाद भी उनसे कुछ भिन्न है। गाँधीजी यह मानते थे कि आर्थिक क्षेत्र में देश को आधुनिकीकरण की ओर ले जाना आवश्यक है लेकिन इसके लिए अतार्किक रूप से मशीनों के प्रयोग को जरूरत से अधिक महत्व देना सही नहीं है। मशीनें सच में बुरी नहीं है। कताई का पहिया भी एक मशीन है। इसके बाद भी जब मशीनों का उपयोग श्रम को बचाने, उसके कारण श्रमिकों की छंटनी करने या श्रमिकों का आर्थिक शोषण करने के लिए किया जाने लगता है तब मशीनों का उपयोग हमारे विकास में बाधक बन जाता है।

प्रोफेसर मुकर्जी ने गाँधीजी के विचारों को आंशिक रूप से स्वीकार करते हुये यह विचार व्यक्त किया कि भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश में प्रौद्योगिकी के मनमाने उपयोग से बेरोजगारी में वृद्धि हो सकती है तथा पूँजीवाद को प्रोत्साहन मिलने से श्रमिकों का शोषण बढ़ सकता है। इस दशा में गाँधीजी का यह विचार उचित है कि प्रौद्योगिक विकास के रूप में बड़े–बड़े कारखानों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। इसके साथ ही उत्पादन में वृद्धि करने के साथ उत्पादकों में यह भावना विकसित होना आवश्यक है कि उनकी पूँजी और सम्पत्ति का वास्तविक मालिक पूरा समाज है, वे स्वयं नहीं। मुकर्जी के यह विचार गाँधीजी के संरक्षता के सिद्धान्त के काफी समीप है। उन्होंने गाँधीजी के इस विचार से भी सहमति व्यक्त की कि शारीरिक श्रम को बौद्धिक तथा आध्यात्मिक श्रम से

अलग करना उचित नहीं है। शारीरिक श्रम के साथ बौद्धिक श्रम भी आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है।

प्रोफेसर डी0 पी0 मुकर्जी के अनुसार प्रौद्योगिकी के अनियोजित विस्तार से मानवीय सम्बन्धों के प्रतिमान इतने अस्त–व्यस्त हो सकते हैं कि व्यक्ति को विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में अपने गुणों को दिखाने का जो आनन्द मिलता है, वह समाप्त हो सकता है। विभिन्न वर्गों के कारीगर और कुटीर उद्योगों में लगे हुए लोग अपने कार्य के दौरान जिस स्वतंत्रता और आनन्द का अनुभव करते हैं, प्रौद्योगिकी पर आधारित आधुनिकीकरण के प्रभाव से उसमें नयी समस्याएं उत्पन्न हो जायेंगी। इसके अतिरिक्त समाज में उन पूँजीपतियों का महत्व बढ़ने लगेगा जिनकी समूहवादी हितों में कोई रूचि नहीं होती। इस दशा को विकास के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता। इस आधार पर उन्होंने यह सुझाव दिया कि आधुनिकीकरण के लिए प्रौद्योगिकी का सीमित और तार्किक उपयोग करना ही उचित है तथा इसके लिए हमें अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दशाओं को भी ध्यान में रखना अनिवार्य है।

मुकर्जी के इन सभी विचारों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने आधुनिकीकरण के लिए पश्चिमी वैचारिकी की जगह भारतीय वैचाारिकी पर अधिक बल दिया तथा यह भी स्पष्ट किया कि वर्तमान सन्दर्भ में भारतीय समाज का आधुनिकीकरण भारत की परम्पराओं और वर्तमान की आवश्यकताओं के समन्वय के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार प्रोफेसर डी0 पी0 मुकर्जी ने भारतीय चिन्तन को एक नया रूप दिया।

अध्याय–3

आन्द्रे बेतेइ (1934 –)

भारतीय समाजशास्त्रियों में अपनी एक अलग पहचान स्थापित करने वाले विचारकों में आन्द्रे बेतेइ का एक प्रमुख स्थान है। दिल्ली विश्वविद्यालय में आन्द्रे बेतेई प्रवक्ता, रीडर और प्रोफेसर के पद पर रहते हुए समाजशास्त्र विषय का अध्यापन करते रहे। वे सन् 2003 में सेवानिवृत्त तो हो गये किन्तु उनका अध्ययन तथा शोध से जो विशेष लगाव पहले था वो आगे भी बरकरार रहा। आन्द्रे बेतेइ विभिन्न संस्थाओं में पदों को सुशोभित करते रहे तथा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय कराते रहे। सन् 2005 में प्रोफेसर बेतेइ को समाजशास्त्र के लिए पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। वर्तमान में वे North Eastern Hill University, Shillong में चान्सलर के पद पर आसीन है।

सामाजिक स्तरीकरण : जाति, वर्ग तथा शक्ति–

(SOCIAL STRATIFICATION : CASTE, CLASS AND POWER)

आन्द्रे बेतेइ उन प्रमुख भारतीय समाजशास्त्रियों मे ंसे एक हैं जिन्होंने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर भारतीय समाज की संरचना में सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए इसके तीन प्रमुख आधारों को जाति, वर्ग तथा शक्ति के रूप में स्पष्ट किया। इससे

सम्बन्धित सम्पूर्ण विवेचन उन्होंने अपनी पुस्तक 'Caste, Class and Power' में दिया है।

आन्द्रे बेतेइ ने तमिलनाडु के तन्नौर जिले में श्रीपुरम् गाँव का अध्ययन किया। उनके अनुसार श्रीपुरम् से प्राप्त तथ्य काफी सीमा तक भारत की सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने में सहायक हो सकते हैं। बेतेइ के अनुसार भारत में सम्पत्ति, व्यवसाय, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा लिंग–भेद के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को नहीं समझा जा सकता है। बेतेइ के अनुसार यह आधार मुख्य रूप से तीन है जिन्हें हम जाति, वर्ग तथा शक्ति कहते हैं।

श्रीपुरम् गाँव एक ऐसा गाँव है जिसमें 349 परिवार रहते हैं तथा गाँव की सामाजिक संरचना बहुत विभेदीकृत और स्तरीकृत है। 349 परिवारों में से 92 परिवार ब्राह्मणों के हैं, 168 परिवार गैर–ब्राह्मणों के एवं 89 परिवार शारीरिक श्रम करने वाले जातियों तथा कारीगरों के हैं। ब्राह्मण परिवार गाँव के जिस हिस्से में रहते हैं उसे 'अग्रहारम्' कहा जाता है। अग्रहारम से बिल्कुल विपरीत दिशा में आदि– द्रविड़ अथवा निम्न जाति के लोगों की बस्ती है जिसे 'चेरी' कहा जाता है। इन दोनों के बीच गैर–ब्राह्मणों के घर हैं।

इस गाँव के अध्ययन के पीछे आन्द्रे बेतेइ का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि यहाँ जाति, वर्ग तथा शक्ति किस प्रकार सामाजिक संस्तरण

का आधार है तथा वर्तमान में इन आधारों में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है।

बेतेइ द्वारा प्रस्तुत जाति, वर्ग तथा शक्ति को समझने से पहले यह आवश्यक है कि उनके विचारों के सन्दर्भ में हम सामाजिक स्तरीकरण के अर्थ को संक्षेप में स्पष्ट करें।

सामाजिक स्तरीकरण (SOCIAL STRATIFICATION)–

आन्द्रे बेतेइ का यह मानना हे कि सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना विद्वानों तथा पश्चिमी लेखकों ने जिस रूप में की है, उसे भारतीय समाज को समझने के लिए अधिक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । भारतीय समाज की संरचना यूरोप के समाजों से भिन्न है। व्यावहारिक रूप से सामाजिक स्तरीकरण को कुछ सामाजिक श्रेणियों की एक व्यवस्था कहा जा सकता है जिसका रूप स्थायी नहीं होता। वास्तव में सामाजिक व्यवस्था इतनी जटिल और लोचपूर्ण होती है कि विभिन्न श्रेणियों का विभेद कभी भी कम या अधिक हो सकता है। इस दशा में स्तरीकरण को सामाजिक श्रेणियो ंकी एक ऐसी लोचपूर्ण व्यवस्था कहना उचित है जिसमें गतिशीलता बनी रहती है। आन्द्रे बेतेइ ने इस सन्दर्भ में जाति, वर्ग तथा शक्ति जैसे आधारों को जिस रूप में स्पष्ट किया उसके आधार पर भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को समझा जा सकता है।

जाति संरचना (CASTE STRUCTURE)–

आन्द्रे बेतेइ के अनुसार जाति संरचना बहुत लम्बे समय से भारतीय समाज में स्तरीकरण का प्रमुख आधार रहा है। जाति व्यवस्था क्या है? इसे बिल्कुल भिन्न रूप से परिभाषित करते हुए उन्होने लिखा, ''जाति व्यवस्था अपरिवर्तनशील समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों को कुछ प्रमुख नियमों के आधार नियन्त्रित करने वाली व्यवस्था है।'' ये नियम वे हैं जिनका सम्बन्ध एक समूह की तुलना में दूसरे समूह की सामाजिक प्रस्थिति, पवित्रता, अपवित्रता, व्यवसाय और सामाजिक सम्पर्क की प्रकृति से है। परम्परागत रूप से जाति के आधार पर ही व्यक्ति के वर्ग और उसकी शक्ति का भी निर्धारण होता है। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण भूमि स्वामी होते थे जबकि निम्न जातियाँ जमीन का किराया देकर उनकी कृषि भूमि पर खेती करती थी। भूमि के स्वामित्व और एक विशेष व्यवसाय के आधार पर ही समाज में व्यक्ति की शक्ति का भी निर्धारण होता है। इस दृष्टिकोण से जातियों को ऐसे प्रस्थिति समूह कहना उचित है जिनकी एक विशेष जीवन शैली होती है। सम्पत्ति तथा व्यवसाय भी इसी जीवन शैली के तत्व है यद्यपि उन्हें निर्णायक तत्व नहीं कहा जा सकता। यदि उच्च प्रस्थिति समूह के व्यक्ति अपने लिये निर्धारित व्यवसाय से भिन्न शिक्षण, सरकारी सेवा या उत्पादन के कार्य करने लगें तो इससे उनकी जीवन शैली में कोई परिवर्तन नहीं होता। जब हम जातियों को कुछ विशेष प्रस्थिति–समूह के रूप में परिभाषित करते है तो इससे अपने आप यह

स्पष्ट होने लगता है कि विभिन्न जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में भी अन्तर होता है। बेतेई ने आगे लिखा, ''जाति को व्यक्तियों के एक ऐसे छोटे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसकी मुख्य विशेषतायें अन्तर्विवाह, आनुवंशिक सदस्यता तथा विशेष जीवन शैली होती है। प्रत्येक जाति के लिये निर्धारित एक विशेष व्यवसाय, अनुष्ठानों के पालन एवं संस्तरणात्मक प्रस्थिति का सम्बन्ध इस जीवन शैली से ही है।'' स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज को एक सोपानात्मक या खण्डनात्मक रूप दिया है।

सामाजिक स्तरीकरण में जाति की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए आन्द्रे बेतेइ ने श्रीपुरम् गाँव की जाति संरचना का अध्ययन किया। बेतेइ के अनुसार इस गाँव की सभी जातियाँ तीन मुख्य भागों में विभाजित है जिन्हें ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण तथा आदि–द्रविड़ कहा जाता है। यह सभी जाति समूह गाँव के एक–दूसरे से भिन्न हिस्सों में रहने के साथ ही अपनी एक अलग पहचान बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

ब्राह्मण (THE BRAHMINS)–

श्रीपुरम् गाँव में ब्राह्मणों, गैर–ब्राह्मणों तथा आदि–द्रविड़ों के बीच का मुख्य अन्तर विभिन्न प्रकार की धार्मिक क्रियाओं तथा अनुष्ठानों से सम्बन्धित है। इस गाँव के ब्राह्मणों में पवित्रता तथा सामाजिक सम्पर्क से जुड़े हुये मूल्यों का विशेष महत्व है। बच्चे के जन्म, विवाह, मृत्यु अथवा दूसरे सांस्कृतिक अवसरों पर इनके निवास क्षेत्र 'अगहारम्' में जब कोई

भोज आयोजित होता है तब उसमें केवल ब्राह्मणों को ही आमन्त्रित किया जाता है। ऐसे अवसर पर गैर–ब्राह्मण भी आमंत्रित किये जा सकते हैं लेकिन उन्हें ब्राह्मण जाति से भिन्न वस्तुयें खाने को दी जाती है। इसके बाद भी गैर–ब्राह्मणों को केवल विशेष परिस्थितियों में ही आमन्त्रित किया जाता है। यहाँ के ब्राह्मण कन्नड़, तेलुगू तथा तमिल भाषाओं का ही उपयोग करते हैं। जहाँ तक यहाँ की कृषि अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध है, ब्राह्मणों की स्थिति गैर–ब्राह्मणों तथा आदि द्रविड़ों से भिन्न है। सामान्य रूप से ब्राह्मण भूस्वामी है लेकिन वे स्वयं खेती न करके दूसरी जातियों के लोगों से अपनी भूमि पर खेती करवाते हैं। भू–स्वामी होने के अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण पुरोहिती, शिक्षण कार्य या दूसरी सेवाओं में भी लगे हैं। वर्तमान में ब्राह्मण जातियों का कार्य शास्त्रों के ज्ञान से सम्बन्धित नहीं है।

स्पष्ट है कि अपनी जीवन–शैली, सामाजिक प्रतिष्ठा और आजीविका के तरीकों के आधार पर ब्राह्मण जातियों की प्रस्थिति दूसरी जातियों से भिन्न है।

गैर–ब्राह्मण (THE NON-BRAHMINS)–

श्रीपुरम् गाँव में गैर–ब्राह्मण जातियाँ विभिन्न प्रकार के कार्यों के द्वारा आजीविका उपार्जित करती है। कोई भी गैर–ब्राह्मण बड़ा भू–स्वामी नहीं है। इस श्रेणी में अनेक व्यक्ति गैर–शारीरिक व्यवसाय जैसे दुकानदारी, कार्यालय सम्बन्धी सेवायें, दस्तकारी, बर्तन बनाने, बढ़ईगिरी, बाल बनाने अथवा कपड़े धोने का काम भी करते हैं। गैर–ब्राह्मणों के

अनेक कार्य आदि–द्रविड़ों के समान भी है। स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यवसाय उसकी जीवन शैली को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

गैर–ब्राह्मण जातियों को सामान्य रूप से एक अभिकेन्द्रीकृत श्रेणी कहा जा सकता है। इसका कारण उनके जीवन का एक विशेष ढंग है। व्यापक अर्थों में गैर–ब्राह्मणों का अधिकांश हिस्सा कृषकों के रूप में है।

बढ़ती हुई भौगोलिक गतिशीलता तथा अपनी जाति से सम्बन्धित कर्मकाण्डीय प्रतिबन्धों को छोड़ने के कारण अब बहुत से गैर–ब्राह्मण लोग सामाजिक व्यवस्था में पहले से उच्च प्रस्थिति का दावा भी करने लगे हैं। इस प्रकार पिछले अनेक वर्षों से गैर–ब्राह्मणों की जाति संरचना अधिक लोचपूर्ण होने लगी है। श्रीपुरम् गाँव में अधिकांश गैर–ब्राह्मण लोग तमिल भाषा बोलते हें।

आदि–द्रविड़ (THE ADI-DRAVIDAS)–

परम्परावादी नियमों तथा सामाजिक व्यवहारों की विशेषता के आधार पर श्रीपुरम् में आदि–द्रविड़ लोगों का स्थान ब्राह्मण तथा गैर– ब्राह्मण से पूरी तरह अलग है। उनका निवास क्षेत्र पृथक है तथा शारीरिक विशेषतायें भी ब्राह्मणों तथा गैर– ब्राह्मणों से भिन्न है। तमिलनाडु की समकालीन राजनीति में उन्होंने नये सिरे से संगठित होकर अपनी शक्ति को बढ़ाने के प्रयत्न किये है। इस परिवर्तन को ब्राह्मणों तथा गैर– ब्राह्मणों द्वारा एक चुनौती के रूप में देखा जाता है।

श्रीपुरम् के सन्दर्भ में तथा सम्भवतः पूरे तमिलनाडु में इस आम सहमति से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मण जातियों की प्रस्थिति गैर–ब्राह्मणों तथा आदि–द्रविड़ों से उच्च है। यह सच है कि अनेक गैर–ब्राह्मण समूह ब्राह्मणों की प्रस्थिति को सर्वोच्च नहीं मानते तथा अब अनेक आदि–द्रविड़ समूह भी उनका समर्थन करने लगे हैं। इसके फलस्वरूप जाति संस्तरण से सम्बन्धित एक अस्पष्ट स्थिति विकसित होने लगी है। गाँव में आयोजित होने वाले धार्मिक समारोहों तथा त्यौहारों में अब विभिन्न जातियों के लोगों को साथ–साथ सहवास करते हुए भी देखा जा सकता है। इस गाँव में शिव मन्दिर तथा काली के मन्दिर में ब्राह्मण तथा गैर–ब्राह्मण साथ–साथ पूजा–उपासना करने लगे है। वर्ष में एक बार जब काली मन्दिर की देवी को गाँव में चारों ओर घुमाया जाता है तब आदि–द्रविड़ भी इसमें हिस्सा लेते हैं। इस आधार पर बेतेइ ने यह निष्कर्ष दिया कि सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण में जाति संरचना के परम्परागत मूल्यों में स्पष्ट रूपे से परिवर्तन होने लगा है।

सामाजिक वर्ग (SOCIAL CLASSES)–

आन्द्रे बेतेइ के अनुसार, ''वर्ग लोगों की एक ऐसी श्रेणी है जिसकी उत्पादन की व्यवस्था में एक विशेष प्रस्थिति होती है।'' उन्होंने आगे लिखा है कि, ''जहाँ जातियों की प्रकृति विभिन्न समुदायों के रूप में होती है वहीं वर्गों को विभिन्न समूह या समुदाय न कहकर विभिन्न श्रेणियों (Categories) के रूप में कहना अधिक उचित है।'' बेतेइ ने इस बात पर

बल दिया कि समाजशास्त्रीय संदर्भ में हमारा मुख्य उद्देश्य वर्ग व्यवस्था को आर्थिक आधार पर स्पष्ट न करके सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में स्पष्ट करना अधिक उचित है। इस दृष्टिकोण से यह देखना आवश्यक है कि विभिन्न वर्गों की प्रकृति तथा उनकी संरचना किस तरह की है तथा वे कौन से अधिकार और कर्तव्य है जो विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से जोड़ते हैं।

जहाँ तक श्रीपुरम् गाँव में कृषि पर आधारित वर्ग व्यवस्था का सम्बन्ध है, यह भू–स्वामियों, किराये पर भूमिक को जोतने वाले लोगों तथा कृषि श्रमिकों के उन सम्बन्धों पर आधारित है जिनकी प्रकृति क्षेत्रीय है। नयी शक्तियों के प्रभाव से वर्ग संरचना मे ंहोने वाले परिवर्तनों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती।

बेतेइ के अनुसार वर्ग की किसी भी विवेचना में साधारणतया मार्क्स के विचारों को बहुत महत्व दिया जाता है। श्रीपुरम् की सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में वर्गों को एक संस्तरण में विभाजित ऐसी सामाजिक श्रेणियाँ कहा जा सकता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और स्वामित्व से वंचित समूहां के रूप में होती हे, यद्यपि उनमें न तो कोई स्पष्ट वर्ग चेतना होती है और न ही उनके बीच वर्ग–संघर्ष होना आवश्यक है।

जातियाँ कुछ विशेष प्रकार के प्रस्थिति समूह है जिनकी जीवन–शैली एक–दूसरे से भिन्न होती है। व्यवसाय तथा सम्पत्ति इस जीवन शैली को कुछ सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं लेकिन यह

प्रस्थिति निर्धारण का निर्णायक आधार नहीं है। जाति संरचना में विभिन्न जातियों को मिलने वाला सम्मान अनेक कर्मकाण्डीय मूल्यों से सम्बन्धित है। वर्ग व्यवस्था का सम्बन्ध इस तरह के मूल्यों से नहीं होता। बेतेइ का मानना है कि वग्रें के साथ किसी तरह की वैधानिक या धार्मिक स्वीकृतियाँ जुड़ी हुई नहीं होती जबकि जाति संरचना व्यावहारिक रूप से धार्मिक स्वीकृतियाँ और सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित होती है। इस आधार पर वर्गों को सामाजिक श्रेणियों के रूप में स्पष्ट करके ही स्तरीकरण के आधार के रूप में इनकी प्रकृति को समझा जा सकता है।

सामाजिक स्तरीकरण के एक प्रमुख आधार के रूप में आन्द्रे बेतेइ ने श्रीपुरम् गाँव में उत्पादन के संगठन, उत्पादक की प्रक्रियाओं, आर्थिक विभेदीकरण की प्रकृति, कृषि–श्रमिकों की प्रस्थिति तथा विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के साथ ही उन दशाओं पर प्रकाश डाला जो वर्तमान में भू–स्वामी वर्ग की प्रस्थिति में होने वाली गिरावट के कारणों को स्पष्ट करते हैं।

1. उत्पादन का संगठन–

श्रीपुरम् गाँव की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है। इस कारण कृषि उत्पादन से सम्बन्धित विभिन्न श्रेणियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध ही उनके उत्पादन सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं। यह श्रेणियाँ, भू–स्वामी, किराये की भूमि पर खेती करने वाले कृषकों तथा कृषि मजदूरों की है। एक मुख्य बात यह हे कि गाँव के उत्पादन का संगठन अतीत की

तुलना में अब अधिक अविभेदीकृत तथा जटिल होने लगा है। इसका कारण उत्पादन से सम्बन्धित नये कानून तथा बाजार की शक्तियाँ हैं।

2. उत्पादन की प्रक्रियायें–

इनका सम्बन्ध गाँव में विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्सम्बन्धों से है। साधारणतया उत्पादन का रूप एक सीमा तक इस अर्थ में सामाजिक है कि सभी श्रेणियों के एक–दूसरे के प्रति अनेक अधिकार और कर्तव्य है।

3. आर्थिक विभेदीकरण–

श्रीपुरम् गाँव में जहाँ तक आर्थिक विभेदीकरण की प्रकृति का सम्बन्ध है, आज की तुलना में कुछ वर्ष पहले तक बहुत अधिक स्पष्ट रूप में थी। एक ओर उत्पादन कार्य के लिये अधिकांश भूमि एक विशेष वर्ग के पास थी तथा यह कठिनता से ही दूसरे आर्थिक वर्गों के लिये हस्तान्तरित हो पाती थी। भू–स्वामी वर्ग की प्रकृति भी काफी समान थी। विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के लोग अब भूमि को खरीदने की स्थिति में है जो इस गाँव में आर्थिक विभेदीकरण में परिवर्तन की दशा से सम्बन्धित है। इसका एक मुख्य कारण गाँव में नकदी अर्थव्यवस्था में वृद्धि होना तथा राजनैतिक सम्बन्धों में परिवर्तन होना।

4. कृषि–श्रमिक वर्ग–

यह वर्ग बहुत लम्बे समय से भूमि के मालिकों और किराये की भूमि पर खेती करने वालों से भिन्न रहा है। इस वर्ग की सबसे मुख्य विशेषता रोजगार तथा आर्थिक सुरक्षा की न्यूनता है। इस वर्ग को उसके श्रम का

मूल्य नकद मिलने के साथ ही इसका एक बड़ा हिस्सा अनाज के रूप में प्राप्त होता है। यह सच है कि कृषि–श्रमिकों की संख्या अधिक नहीं है लेकिन फिर भी उनकी दशा में सुधार नहीं हो सका।

5. विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध–

बेतेइ ने लिखा है कि नये कानूनों तथा अनेक बाह्य कारकों के फलस्वरूप विभिन्न वर्गों के सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों में आज एक स्पष्ट परिवर्तन देखने को मिलता है। भू–स्वामी वर्ग के लोग अक्सर रोजगार तथा शिक्षा के लिये जब दूसरे स्थानों पर जाकर बस जाते हैं तब बहुत से भू–स्वामी गाँव में अपनी जमीन को बेचने लगते हैं। एक विशेष तथ्य यह है कि भू–स्वामी तथा भूमि पर खेती करने वाले लोगों के सम्बन्ध पहले की तुलना में अधिक तनावपूर्ण देखने की मिलते हैं। अधिकांश भू–स्वामी का कृषि–श्रमिक वर्ग पर नियंत्रण कमजोर पड़ता जा रहा है। स्पष्ट है कि विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध आज न तो परम्परागत है और न ही उनमें कोई स्थिरता देखने को मिलती है। बेतेइ ने इसके लिए पट्टेदारों तथा कृषि श्रमिकों की सुरक्षा से सम्बन्धित नये अधिनियमों को उत्तरदायी माना है।

आन्द्रे बेतेइ का कथन है कि विभिन्न वर्गों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध टूटने का मुख्य कारण भू–स्वामी वर्ग की प्रस्थिति मे होने वाली गिरावट है। इस वर्ग का उत्पादन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के बाद भी उनकी जीवन शैली आडम्बरपूर्ण उपभोग पर आधारित बनी रहने से

अक्सर यह वर्ग ऋणग्रस्त हो जाता है। जुआ और सट्टेबाजी के फलस्वरूप भी इसकी स्थिति में गिरावट आयी है। इसी का परिणाम है कि भू–स्वामी वर्ग की अधिकांश जमीनें दूसरे वर्गों को हस्तान्तरित होने लगी है। भू–स्वामी वर्ग की नयी पीढ़ी पश्चिमी ढंग की शिक्षा प्राप्त करके गाँव छोड़ने के साथ रोजगार के दूसरे तरीके ढूँढने लगी है। जब यह लोग स्वयं गाँव में नहीं रहते तो दूसरे वग्रें से खेती करवाना उनके लिए लाभप्रद नहीं रह जाता।

इस दशा में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भू–स्वामी वर्ग की गॉव में वर्तमान स्थिति क्या है? वर्तमान में इस वर्ग को हम केवल भू–पतियों का एक अदृश्य वर्ग ही कह सकते है। इसी का परिणाम है कि आज भू–स्वामी तथा पट्टेदार वर्ग के बीच एक मध्यम वर्ग भी पैदा होने लगा जो अपनी छोटी–छोटी भूमियो ंपर कृषि–श्रमिकों से कार्य करवाकर अपनी आजीविका उपार्जित करते हैं। इसे हम एक ऐसा किसान वर्ग कह सकते हैं जिसकी आर्थिक स्थिति पट्टेदारों से भिन्न होने के बाद भी सामाजिक रूप से यह पट्टेदारों तथा कृषि–श्रमिकों से पूरी तरह पृथक् नहीं है। इस आधार पर बेतेइ ने यह निष्कर्ष दिया कि आज ग्रामीण वर्ग व्यवस्था पूरी तरह जाति संरचना पर आधारित न होकर एक स्वतंत्र रूप लेने लगी है।

शक्ति (POWER)–

आन्द्रे बेतेइ ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण की वर्तमान व्यवस्था जाति और वर्ग की तुलना में बदलते हुए प्रतिमानों से कहीं अधिक प्रभावित होती है। वर्तमान समाज में कोई व्यक्ति चाहे किसी भी जाति अथवा वर्ग का सदस्य हो, उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण इस बात से होने लगा है कि एक विशेष गाँव अथवा क्षेत्र की शक्ति–संरचना में उसका स्थान क्या है?

शक्ति क्या है? इसे व्यापक अर्थ में परिभाषित करते हुए बेतेइ ने लिखा– ''सामान्य तौर पर शक्ति से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति या समूह को मिलने वाले उस अवसर से होता है जिसका उपयोग वे सामुदायिक क्रिया में भाग लेने वाले दूसरे व्यक्तियों के विरोध के बाद भी अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए करते हैं।'' बेतेइ ने आगे लिखा, ''व्यापक अर्थों में शक्ति की अवधारणा आवश्यक रूप से वैधानिक शक्ति से सम्बन्धित नहीं होती..... वास्तव में शक्ति में शारीरिक बल का समावेश होने के साथ ही इसे आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक स्वीकृतियाँ भी मिली होती है।'' शक्ति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह किसी व्यक्ति या समूह के पास स्थायी रूप से नहीं रहती।

शक्ति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति में होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए बेतेइ ने उन आधारो ंको स्पष्ट किया जिन्हें शक्ति के स्रोत कहा जाता है। वे स्रोत निम्नलिखित हैं–

1. पंचायतें–

वर्तमान गाँवों में पंचातयों को शक्ति के प्रमुख स्रोत के रूप में देखा जाता है। परम्परागत रूप से ग्रामों में व्यक्ति की सामाजिक ओर आर्थिक प्रस्थिति का निर्धारण उसकी जाति तथा आयु के आधार पर होता है। इसके विपरीत वर्तमान में जो लोग पंचायत के सदस्य चुन लिये जाते हैं, उन्हें दूसरे लोगों की तुलना में अधिक शक्ति मिल जाती है। श्रीपुरम् गाँव में ब्राह्मण परिवारों की संख्या कम होने के कारण पंचायती शक्ति संरचना में उन्हें वह स्थान नहीं मिल पाया जो दूसरी जातियों को मिला। स्वतंत्रता के बाद व्यक्ति की परम्परागत सामाजिक प्रस्थिति आज शक्ति का मुख्य आधार नहीं है। अपनी संख्या शक्ति के कारण जिस जाति और वर्ग के लोग संगठित होकर पंचायत में मिलने वाले अधिकार प्राप्त कर लेते हैं वे पुराने भू–पतियों के लिए एक चुनौती बन जाते हैं।

2. भूमि का स्वामित्व–

भूमि का स्वामित्व शक्ति का एक महत्वपूर्ण आधार अवश्य है किन्तु वर्तमान दशाओं में आन्द्रे बेतेइ ने शक्ति के स्रोत के रूप में भू–स्वामित्व को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना क्योंकि यह स्रोत अपने आप में अस्पष्ट है तथा इसकी प्रकृति में तेजी से परिवर्तन होता जा रहा है।

3. शक्ति–गुट–

बेतेइ के अनुसार श्रीपुरम् की वर्तमान संरचना में अनेक शक्ति–गुटों का विकास होना शक्ति के एक नये स्रोत के रूप में उभरा है। इसके

निर्माण में जाति तथा वर्ग की विशेष भूमिका होती है। गाँवों की राजनीति में शक्ति–गुटों के निर्माण में विभिन्न जातियों तथा वर्गों की संख्या शक्ति का प्रमुख स्थान है। शक्ति गुट की प्रस्थिति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि स्थानीय राजनीति को प्रभावित करने में उसका योगदान कितना है। ऐसे गुटों की शक्ति में सत्ता का समावेश होना जरूरी नहीं होता।

4. राजनैतिक दल–

राजनैतिक दल किसी विशेष जाति अथवा वर्ग के आधार पर नहीं बनते। राजनैतिक दल अपने अधिकारियों तथा सदस्यों को ऐसी शक्ति देने का आधार है जो उनसे अलग रहने वाले लोगों को प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि श्रीपुरम् तथा अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न व्यक्ति शक्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न राजनैतिक दलों से जुड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करने लगे हैं।

5. जाति पंचायत–

वैधानिक रूप से बनने वाली ग्राम पंचायतों के अतिरिक्त ग्रामों में आज भी जाति पंचायतें किसी न किसी रूप में शक्ति का मुख्य स्रोत हैं, जाति पंचायतें ग्राम पंचायत से पृथक् रहते हुये स्वतंत्र रूप से अपना काम करती है। जाति पंचायत की शक्ति उसके सदस्यों के समर्थन पर निर्भर करती है तथा इसके कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त न होने के बाद भी

जाति के लोगों के व्यवहारों को प्रभावित करने में इनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण देखने को मिलती है।

जाति, वर्ग और शक्ति में वर्तमान परिवर्तन (PRESENT CHANGES IN CASTE, CLASS & POWER)–

बेतेइ ने सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों के रूप में जाति, वर्ग तथा शक्ति की विवेचना के साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि वर्तमान में सामाजिक स्तरीकरण के इन आधारों में एक स्पष्ट परिवर्तन होने लगा है। श्रीपुरम् में जीवन के अनेक ऐसे क्षेत्र है जो परम्परागत जाति संरचना से लगभग पूरी तरह स्वतंत्र हो चुके हैं। उदाहरण के लिए, भू–स्वामित्व, व्यवसाय तथा शिक्षा वे क्षेत्र हैं जिन पर जाति विभेदीकरण का कोई स्पष्ट प्रभाव देखने को नहीं मिलता। भू–स्वामित्व का निर्धारण अब एक खुली बाजार व्यवस्था के आधार पर होने लगा है तथा आदि द्रविड़ श्रेणी से सम्बन्धित जातियाँ भी कृषि भूमि की मालिक बनने लगी हैं। गाँव में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दशाओं से प्रभावित है। एक बन्द प्रकृति की सामाजिक व्यवस्था खुली व्यवस्था के रूप में बदलने लगी है। अधिकांश लोगों की प्रस्थिति अब आनुवंशिक नही है बल्कि राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत उपलब्धियों से होता जा रहा है। गाँव में नयी–शक्तियों के प्रभाव से सम्पत्ति के वितरण में होने वाले परिवर्तन से भू–स्वामियों, पट्टेदारों और कृषि श्रमिकों के सम्बन्धों में होने वाले

परिवर्तन इन्हीं शक्तियों का परिणाम है। शक्ति में होने वाले परिवर्तन का एक मुख्य कारण नयी पंचायती व्यवस्था तथा राजनैतिक दल भी है जिनके कारण उन समूहों की शक्ति पहले की तुलना में कही अधिक हो गयी है जो शक्ति से पूरी तरह वंचित थे। बेतेइ का मानना है कि इस दृष्टिकोण से श्रीपुरम् में एक ऐसी सामाजिक गतिशीलता पैदा हुई है जिसने सामाजिक स्तरीकरण के संस्तरण को एक नया रूप दिया है।

कृषक समाज (Peasant Society)–

अपने समाजशास्त्रीय चिन्तन में आन्द्रे बेतेइ का एक मुख्य योगदान उनके द्वारा कृषक समाज की अवधारणा को स्पष्ट करना है। इस अवधारणा से सम्बन्धित अपने विचारों को उन्होनें अपनी पुस्तक "Essays in Comparative Sociology, 1984 (तुलनात्मक समाजशास्त्र पर निबन्ध) में प्रस्तुत किया है।

आरम्भ में ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत के सम्पूर्ण ग्रामीण समुदाय को हम कृषक समुदाय या कृषक समाज नहीं कह सकते। आन्द्रे बेतेइ ने यह स्पष्ट किया कि अधिकांश विद्वान भारतीय समाज को पहले शहरी और ग्रामीण जैसे दो हिस्सों में विभाजित करते हैं और इसके बाद ग्रामीण खण्ड को जनजातीय तथा गैर–जनजातीय खण्डों में विभाजित कर दिया जाता है।

सामान्य तौर पर भारतीय समाज के गैर–जनजातीय ग्रामीण हिस्से को ही कृषक समाज कह दिया जाता है। मानवशास्त्री कभी–कभी कृषक

समाज का अर्थ एक अवशिष्ट श्रेणी (Residual Category) के रूप में स्पष्ट करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कृषक समाज के अन्तर्गत उन सभी समाजों को सम्मिलित किया जाता है जो स्पष्ट रूप से न तो जनजातीय है और न ही औद्योगिक। बेतेइ ने लिखा है कि वास्तव में कृषक समाज के सन्दर्भ में यह धारणा त्रुटिपूर्ण है।

आन्द्रे बेतेइ ने अनेक समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों द्वारा दी गयी कृषक समाज की अवधारणा तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न आधारों को स्पष्ट किया तथा बाद में उनकी उपयुक्तता का मूल्यांकन करके कृषक समाज की व्यावहारिक अवधारणा प्रस्तुत की।

आन्द्रे बेतेइ के अनुसार भारतीय ग्रामों की परिस्थितियाँ न केवल यूरोप के गाँवों से भिन्न है बल्कि यहाँ कृषक समाज की संरचना तथा कृषकों की प्रेरणायें भी एक भिन्न रूप में देखने को मिलती है। आन्द्रे बेतेइ ने तीन विशेषताओं के आधार पर कृषक समाज की अवधारणा को स्पष्ट किया है–

1. कृषक भूमि से जुड़ा होता है।

2. सम्पूर्ण समाज में कृषक की स्थिति निम्न होती है।

3. कृषक और श्रमिक को एक समान नहीं माना जा सकता है।

आन्द्रे बेतेइ के अनुसार एक कृषक भूमि को ही अपने श्रम का आधार मानता है। कृषक के लिए भूमि का स्वामी होना आवश्यक नहीं। एक व्यक्ति चाहे भूमि का स्वामी हो, किराये पर भूमि को जोतता हो अथवा

केवल एक श्रमिक के रूप में भूमि पर श्रम करता हो, वह एक कृषक हो सकता है।

जो व्यक्ति कृषकों के परिश्रम, सादे जीवन तथा मितव्ययिता की प्रशंसा करते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि अन्य समूहों की तुलना में कृषकों की वास्तविक स्थिति उच्च नहीं होती। साधारणतया यह मान लिया जाता है कि उनकी विशेषताएं ग्रामीण कुलीन वर्ग के विपरीत होती है। एक कृषक यदि भूमि का स्वामी भी हो तो उसकी कृषि भूमि का आकार अक्सर इतना छोटा होता है कि वह अपनी भूमि को स्वयं जोतता है और इससे प्राप्त कम आय के कारण अपने परिवार के भरण–पोषण में आर्थिक कठिनाई अनुभव करता है।

वास्तव में कृषक और श्रमिक दोनों ही सामाजिक और आर्थिक शोषण के शिकार होते हैं लेकिन इनके शोषण की प्रकृति एक–दूसरे से भिन्न है। इसलिए आन्द्रे बेतेइ के अनुसार इन दोनों वगों को समान श्रेणी में रखना उचित प्रतीत नहीं होता।

आन्द्रे बेतेइ ने रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा दी गयी कृषक समाज की विशेषताओं की उपयुक्तता की समीक्षा की तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे की भारतीय परिस्थितियों में रेडफील्ड की अवधारणा उपयुक्त नहीं है। इसे निम्नांकित मान्यताओं के मूल्यांकन से समझा जा सकता है।–

1. रेडफील्ड ने कृषक समाज को एक समरूप समुदाय माना है। भारत में कृषक समाज को एक समरूप समुदाय नहीं कहा जा सकता।

यहाँ एक ही गाँव में विभिन्न धर्मों, जातियों तथा मान्यताओं के व्यक्ति साथ–साथ काम करते हैं। अनेक व्यक्ति खेती करते हैं जबकि कुछ व्यक्ति भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करते हैं।

2. रेडफील्ड की यह मान्यता है कि जो व्यक्ति कृषक नहीं है वे कुलीन वर्ग के अन्तर्गत आते हैं तथा उनका निवास स्थान गाँव न होकर कस्बा अथवा नगर होता है। यह धारणा भी इसलिए उचित नहीं है कि भारतीय ग्रामों में कृषक और अकृषक (जो कभी–कभी कुलीन वर्ग के समान होते हैं) एक ही गाँव में साथ–साथ रहते हैं। इस प्रकार स्थानीय पृथकता के आधार पर भी कृषक समाज की अवधारणा भारतीय परिस्थितियों में अधिक उपयुक्त नहीं है।

3. कृषक समाज को रेडफील्ड ने एक अविभेदीकृत और अस्तरीकृत समुदाय स्वीकार किया है। बेतेइ के अनुसार यह मान्यता भी भारतीय कृषक समाज पर लागू नहीं होती। भारत में एक गाँव के अन्तर्गत अत्यधिक विविधता तथा जटिलता देखने को मिलती है।

4. रेडफील्ड ने कृषक समाज को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है– कृषक वर्ग तथा अभिजात वर्ग। यदि भारतीय ग्रामों के सन्दर्भ में विचार किया जाये तो स्पष्ट होगा कि यहाँ के गाँवों में अनेक ऐसे समूह हैं जो इन दोनों वर्गों में से किसी एक के भी अन्तर्गत नहीं आते– उदाहरण के लिए, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले।

5. रेडफील्ड ने कृषक समाज की अवधारणा में आर्थिक आधार को ही विशेष महत्व दिया है। वास्तविकता यह है कि भारत में कृषक वर्ग से सम्बन्धित कोई भी अवधारणा तब तक उपयुक्त नहीं हो सकती जब तक आर्थिक आधार के अतिरिक्त सामाजिक तथा धार्मिक आधार को भी महत्व न दिया जाये।

कृषक समाज के बारे में रेडफील्ड तथा शेनिन के विचारों से अपनी असहमति स्पष्ट करने के बाद भी बेतेइ ने कृषक समाज की कोई स्पष्ट परिभाषा न देकर केवल कुछ ऐसे आधारों पर विचार किया जो कृषक समाज के निर्धारण में महत्वपूर्ण हो सकते हैं। पश्चिमी लेखकों के अनुसार बेतेइ द्वारा अध्ययन किये गये श्रीपुरम् गाँव को भी एक कृषक समाज माना जा सकता है। लेकिन बेतेइ के अनुसार इसे किसी भी रूप में एक कृषक समाज नहीं कहा जा सकता। इस गाँव में केवल कुछ परिवार ही ऐसे हैं जो कृषक समाज की अवधारणा से मेल खाते हैं। इसका कारण यह है कि गाँव के अधिकांश व्यक्ति अपनी जमीन स्वयं जोतने का काम नहीं करते जो कृषक समाज की एक आवश्यक विशेषता है। बेतेइ ने विभिन्न गाँवों के पारिस्थितिकीय अन्तर को ध्यान में रखते हुए किसी परिवार द्वारा भूमि को स्वयं जोतना, किसान का अपनी भूमि से विशेष लगाव होना, उत्पाद का लक्ष्य मुख्यतः उपभोग होना, खेती का पिछड़ापन तथा खेती में स्त्रियों के प्रत्यक्ष सहभाग आदि दशाओं को कृषक समाज के मानदण्डों के रूप में स्पष्ट किया।

यह विशेषताएं ऐसी हैं जो किसी एक गाँव अथवा गाँव के किसी एक हिस्से से सम्बन्धित नहीं होती। इस दिशा में बेतेइ के अनुसार कृषक शब्द का उपयोग एक पृथक् पारिवारिक इकाई के रूप में करना अधिक उचित है।

आन्द्रे बेतेइ के अनुसार, ''वास्तविक अर्थों में एक कृषक परिवार वह है जहाँ परिवार के सभी सक्रिय स्त्री और पुरूष सदस्य खेतों में काम करते हैं।'' गाँव में ऐसे बहुत से परिवार मिलेंगे जहाँ पुरूष तो खेत में काम करते हैं लेकिन परम्परागत नियमों और मूल्यों के कारण स्त्रियों द्वारा खेत पर काम करना उचित नहीं माना जाता। यदि किसी परिवार की स्त्रियाँ भी खेत पर काम करती हैं तो उस परिवार का स्तर बहुत नीचा माना जाने लगता है। साधारणतयसा यदि एक किसान की आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी हो जाती है तो सबसे पहले वह परिवार की स्त्री सदस्यों को काम से अलग कर देता है। इस सम्बन्ध में बेतेइ ने चीन की फीशाओ–तुंग द्वारा दिये गये उस विवरण का उदाहरण दिया जिसके अनुसार चीन के कृषक परिवारों में स्त्री–पुरूष के बीच कोई श्रम विभाजन नहीं है। अनेक मामलों में परिवार की स्त्रियाँ पुरूषों की तुलना में भी अपने खेत पर अधिक काम करती हैं।

वास्तव में, इस तरह के परिवार कृषक समाज की अवधारणा से अधिक निकट है। इसका तात्पर्य यह है कि खेती में परिवार की

स्त्री–सदस्यों का सहभाग भी कृषक समाज की अवधारणा को समझते समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

अनेक मानवशास्त्री यह मानते हैं कि जनजातीय समाज कृषक समाज से भिन्न है तथा उनका अध्ययन एक अलग श्रेणी के रूप में किया जाना चाहिए। आन्द्रे बेतेइ के अनुसार जनजातियों के बारे में हमारे मन में मानवशास्त्रीय विवेचनाओं के आधार पर जो धारणा बनी हुई है, जनजातियों का जीवन वास्तविक अर्थ में उससे बहुत भिन्न है। आज अधिकांश जनजातियाँ संक्रमण की दशा में है तथा अधिकांश जनजातीय परिवारों का जीवन कृषक समाज के समान होता जा रहा है।

समालोचना (Critical Appraisal)–

कृषक समाज के बारे में बेतेइ के विचार महत्वपूर्ण अवश्य हैं, लेकिन बेतेइ द्वारा स्वयं कृषक समाज की जो परिभाषा दी गयी है उससे यह भ्रम पैदा होता है कि यदि कृषक परिवार में स्त्रियाँ परम्परागत मान्यताओं अथवा सामाजिक मूल्यों के कारण घर से बाहर निकलकर खेतों का कार्य नहीं करती हो ऐसे परिवार को कृषक परिवार नहीं माना जा सकता है। वर्तमान परिस्थितियों में आज अनेक कृषक परिवारों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने के कारण खेत में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या में कमी होती जा रही है। गाँवों की उच्च जातियों में यह प्रवृत्ति कही अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसे विपरीत, निम्न जातियों की स्त्रियाँ आज भी खेत में सक्रिय रूप से कार्य करती है। इसका तात्पर्य यह है कि आन्द्रे

बेतेइ के अनुसार निम्न जातियों के परिवार विशुद्ध रूप से कृषक हैं जबकि उच्च जातियों के परिवार या तो कृषक नहीं है या अर्द्ध–कृषक हैं। वास्तविकता यह है कि आन्द्रे बेतेइ द्वारा प्रस्तुत अवधारणा की यह संकीर्णता है।

आन्द्रे बेतेइ की मान्यता के अनुसार यदि कोई स्वयं हल नहीं चलाता तो वह कृषक कहलाने का अधिकारी नहीं है। यह एक बड़े काम का नवीन व्यावहारिक दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि कृषक समाज की अवधारणा को स्पष्ट करने में विदेशी विद्वानों के विचार उपयुक्त नहीं है। भारतीय ग्रामों की परिस्थितियाँ यूरोपीय ग्रामों से अत्यधिक भिन्न है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि कृषक समाज को स्पष्ट करने के लिए विदेशी और भारतीय विद्वानों द्वारा जो विचार प्रस्तुत किये गए हैं उनमें समन्वय करते हुए एक ऐसी अवधारणा को प्रस्तुत किया जाये जो भारतीय कृषक समाज की व्यावसायिक तथा सामाजिक विशेषताओं का सही प्रतिनिधित्व कर सके।

लोक संस्कृति (FOLK-CULTURE)

ऐतिहासिक आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आदिकाल से ही मानव समाज दो मुख्य भागों में विभाजित रहा है– पहला वह जिसमें परम्परागत आधार पर सरल जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति निवास करते हैं तथा दूसरा वह जिसमें व्यक्तियों को तुलनात्मक रूप से एक विकसित

पर्यावरण के अन्तर्गत विभिन्न व्यवहारों का प्रशिक्षण प्राप्त होता है। पहली श्रेणी के समाज को हम लोक समाज कहते हैं। जबकि दूसरी तरह के समाजों की प्रकृति उनसे पूर्णतया भिन्न रही है। उच्च उत्तरीय समाजों में शिष्टाचार और संस्कृति के भौतिक तत्वों की प्रधानता होती है जबकि लोक समाज में लोकाचारों की प्रधानता होती है। सामान्य शब्दों में लोकाचार प्रधान समाजों की संस्कृति को ही लोक संस्कृति कहा जाता है।

लोक–समाज वह है जिसका आकार छोटा होता है तथा जिसके अन्तर्गत औपचारिक शिक्षा का अभाव, सदस्यों के व्यवहारों में समरूपता, परम्परावादिता तथा सामूहिक दृढ़ता जैसी विशेषतायें पायी जीत हैं। इन समाजों में वैज्ञानिक चिन्तन का अभाव होता है। लोक–संस्कृति का तात्पर्य परम्पराओं पर आधारित जीवन के एक सामान्य ढंग से है। इसका तात्पर्य है कि लोक–संस्कृति के अन्तर्गत सभी धार्मिक विश्वास, आचरण के तरीके, कर्मकाण्ड, ज्ञान की प्रकृति, व्यवहार और शिष्टाचार के तरीके, कला, लोकगाथाएं तथा चिन्तन किसी न किसी धार्मिक और स्थानीय परम्पराओं से प्रभावित होते हैं।

साधारणतया यह माना जाता है कि लोक–संस्कृति ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन से सम्बन्धित है तथा ग्रामीण समाजों को समझने के लिए उनकी लोक–संस्कृति को समझना आवश्यक है। आरम्भ में ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आन्द्रे बेतेइ ने अपनी किसी भी पुस्तक में पृथक रूप से लोक संस्कृति की अवधारणा की विवेचना नहीं की, यद्यपि

अपने विभिन्न लेखों में उन्होंने संस्कृति के सन्दर्भ में लोक–संस्कृति की कुछ विशेषताओं को अवश्य स्पष्ट किया है।

आन्द्रे बेतेइ ने यह स्पष्ट किया कि अनेक विचारक लोक–संस्कृति को मानवशास्त्र के अध्ययन से सम्बन्धित मानने लगे हैं लेकिन इस तरह के विचार अधिक तार्किक और उपयुक्त नहीं है। विभिन्न समुदायों की लोक–संस्कृति एक–दूसरे से भिन्न होती है। वास्तव में, लोक संस्कृति को इस दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए कि विभिन्न समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने में लोक–संस्कृति किस तरह उपयेागी है। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि लोक–संस्कति केवल ग्रामीण अथवा जनजातीय समाजों से ही सम्बन्धित नहीं होती बल्कि नगर में रहने वाले अनेक समूहों में भी लोक–संस्कृति सम्बन्धी प्रतिमान उनके व्यवहार की विशेषता हो सकते हैं।

अपनी पुस्तक 'समानता तथा सार्वभौमिकता' (Equality & Universality) में बेतेइ ने लोक संस्कृति को एक सार्वभौमिक संस्कृति के रूप में स्पष्ट करते हुए इसे सरल समाजों की एक मौलिक विशेषता के रूप में स्पष्ट किया। आन्द्रे बेतेइ ने लोक–संस्कृति की जिन विशेषताओं को अधिक महत्वपूर्ण माना, उन्हें संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

1. सरलता–

लोक–संस्कृति में अनेक पीढ़ियों की भावनायें निहित होने के कारण यह संस्कृति सरलता तथा निष्कपटता को अधिक महत्व देती है। इसका

निर्माण करने वाली सभी इकाईयों की प्रकृति बहुत सरल होती है। उदाहरण के लिये, लोक–जीवन में प्रचलित चित्रकला तथा वास्तुकला को अभिव्यक्त करने वाली लोक–कला का रूप बहुत सरल होता है। लोक–कला के लिये प्रयुक्त होने वाले विभिन्न उपकरणों का निर्माण गाँवों में ही होता है। इसी प्रकार लोक–संस्कृति से सम्बद्ध साहित्य मौखिक परम्पराओं के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों तथा विभिन्न समूहों को हस्तान्तरित होता है। इस साहित्य में सामूहिकता के दर्शन होते हैं, व्यक्तिवादिता के नहीं।

2. मौखिक सांस्कृतिक परम्परा–

लोक–संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, साहित्य, संगीत, लोक–गाथाओं तथा विश्वासों के प्रशिक्षण को ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। लोक–संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के व्यवहारों, विश्वासों, विधि–विधानों तथा शिष्टाचारों के लिए पुस्तकों के किन्ही लिखित नियमों का पालन नहीं किया जाता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार, पड़ोस अथवा अनौपचारिक समूहों से उनकी मौखिक सीख प्राप्त होती है।

3. व्यावसायीकरण का अभाव–

लोक–संस्कृति अव्यावसायिक होती है। लोक–संस्कृति से सम्बद्ध विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ तथा शिल्पकार आदि अपनी कला का उपयोग धन प्राप्त करने के लिए नहीं करते बल्कि इसका उपयोग ग्रामीण समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता है।

4. कृषक जीवन पर आधारित–

इस संस्कृति में कृषक जीवन की सामूहिक चेतना के दर्शन होते हैं तथा इसका उद्‌देश्य कृषक समुदायों को अभावों के पश्चात् भी मानसिक रूप से संतुष्ट बनाये रखना है।

5. स्थानीय स्वरूप–

ग्रामीण जीवन में अनेक ऐसे देवी–देवताओं पर विश्वास किया जाता है तथा अनेक ऐसे त्योहार मनाये जाते हैं जिनका विस्तार सम्पूर्ण भारत में है तथा उनका उद्‌गम स्रोत कोई न कोई धर्म ग्रन्थ है। ऐसे देवी–देवताओं अथवा त्योहार संस्कृति की अभिजात परम्परा अथवा दीर्घ परम्परा से सम्बन्धित होते हैं।

इसके पश्चात् भी गाँवों में अनेक ऐसे देवी–देवता, त्यौहार, अनुष्ठान और मेले देखे जा सकते हैं जिनका प्रसार सम्पूर्ण भारत में न होकर, उनका रूप स्थानीय होता है। लोक–संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है जिसमें इस स्थानीय स्वरूप को ही अधिक प्रधानता दी जाती है। धर्म तथा विश्वासों का स्थानीय स्वरूप लोक–संस्कृति की इस विशेषता को स्पष्ट करता है।

6. बौद्धिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन की दृष्टि से पूर्णता का अभाव–

जिस प्रकार कृषक समाज की अवधारणा अर्द्ध–समाज के रूप में स्पष्ट होती है, उसी प्रकार लोक–संस्कृति भी एक अर्द्ध संस्कृति है। यह सच है कि ग्रामीण समुदाय से लोक–संस्कृति का अस्तित्व कभी अभिजात

संस्कृति में विलीन नहीं हो सका लेकिन वह अवश्य स्वीकार करना होगा कि अपने सदस्यों के भौतिक अथवा नैतिक जीवन के विकास के लिये लोक–संस्कृति बड़ी सीमा तक अभिजात वर्ग की संस्कृति से प्रभवित होती रही है।

7. कलात्मक क्रियाओं में सभी का सहभाग–

लोक–संस्कृति के अन्तर्गत आने वाली कलात्मक क्रियाओं में सभी लोगों का सहभाग होता है। इसका तात्पर्य है कि लोक–संस्कृति के अन्तर्गत दर्शक तथा कलाकार को अलग–अलग वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। एक व्यक्ति दर्शक भी होता है, और साथ ही अभिनेता भी। उदाहरण के लिए लोक नृत्य में भाग लेने वाले व्यक्ति स्वयं ही गीत की रचना करते हैं, उसे गाते हैं, और साथ ही नृत्य भी करते हैं। एक समय में जो दर्शक होता है, दूसरे समय वहीं कलाकार बन जाता है।

8. सृजनात्मकता–

सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि लोक–संस्कृति में एक विशेष सृजनात्मक शक्ति होती है। लोक–संस्कृति के अन्तर्गत मन्दिर, धार्मिक उत्सव, अनुष्ठान, त्योहार तथा नृत्य आदि व्यक्तियों की सामूहिकता के गुण में वृद्धि करने का अवसर देते हैं। मनोरंजन के आधार पर लोक–गाथाएँ तथा भजन–कीर्तन, वृद्ध व्यक्तियों के जीवन के अनुभव होते हैं। विभिन्न नाटकों तथा खेलों के स्त्रोत वे धार्मिक–ग्रन्थ होते हैं जिनकी शिक्षाएँ व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार

लोक–संस्कृति किसी स्थान पर जितनी प्रभावपूर्ण होती है, वहाँ व्यक्तित्व का आन्तरिक पक्ष उतना ही अधिक संगठित देखने को मिलता है।

लोक संस्कृति में परिवर्तन–

वर्तमान युग में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, पाश्चात्य शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव से ग्रामीण जीवन के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। कुछ समय पूर्व तक अध्ययनकर्ताओं की यह धारणा थी कि लोक–संस्कृति की प्रकृति रूढ़िवादी तथा परिवर्तन विरोधी होती है। इसलिए इस संस्कृति में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं उत्पन्न हो सकता। वर्तमान समय में ऐसी धारणायें गलत प्रमाणित होने लगी है क्योंकि गाँवों की आर्थिक तथा सामाजिक संरचना बदलने के साथ ही लोगों की मनोवृत्तियों तथा सम्पर्क के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम लोक–संस्कृति में होने वाले परिवर्तन के रूप में हमारे सामने आया है। वास्तविकता यह है कि आज अभिजात वर्ग की तर्कशील तथा परिवर्तनशील संस्कृति ने लोक–संस्कृति को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है।

लोक–संस्कृति से सम्बद्ध एक परम्परागत धारणा यह थी कि संस्कृति स्थानीय परम्पराओं से निर्मित होती है। इसलिए इसमें परिवर्तन की सम्भावना बहुत कम है। व्यावहारिक रूप से आज लोक–संस्कृति के प्रसार का क्षेत्र स्थानीय न रहकर काफी विस्तृत हो गया है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक गाँव में कुछ देवी–देवता पाये जाते हैं जो विशेष रूप से उसी

ग्रामीण क्षत्र से सम्बन्धित होते हैं परन्तु यदि तुलनात्मक आधार पर उनका विश्लेषण किया जाये तो सम्पूर्ण भारत में ग्रामीणों के विश्वासों, कार्य–प्रणालियों तथा अनुष्ठानों में एक समानता देखने को मिलती है। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में पाये जाने वोल अनेक देवी–देवता ऐसे हैं जिनके नाम विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न हैं लेकिन उनका स्वरूप तथा उनके प्रति ग्रामीणों के विश्वास सभी स्थानों में एक से है। उदाहरण के लिए, सभी गाँवों में 'खेती के संरक्षक देवता' की पूजा की जाती है यद्यपि उनके नामों में कुछ भिन्नता देखने को मिलती है। इसी प्रकार लोक–साहित्य के अन्तर्गत आने वाले लोक–गीत, कविताएँ, मुहावरें, कहावतें विभिन्न भाषा–भाषी क्षेत्रों में एक–दूसरे से कुछ भिन्न है लेकिन उनका कथानक लगभग समान होता है।

अत्यधिक प्राचीन काल से ही लोक–संस्कृति के अन्तर्गत लोक–कला का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान समय में चलचित्रों, टेलीविजन तथा रेडियो के प्रभाव से लोक–कला परम्परागत लोक जीवन से भिन्न हो गयी है। आज लोक–कला को सामूहिक विशेषता के रूप में न देखकर व्यक्तिगत कुशलता के रूप में देखा जाता है। आज लोक–संस्कृति के अन्तर्गत साहित्य, संगीत तथा मनोरंजन के स्वरूप में व्यावसायिकता के गुण उत्पन्न हो गये हैं।

लोक–संस्कृति में होने वाले परिवत्रन इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है कि वर्तमान युग में इसके अन्तर्गत जनसामान्य का सहभाग निरन्तर कम

होना जा रहा है। आधुनिकीकरण तथा नगरीकरण के प्रभाव से लोक–जीवन नगरीय संस्कृति को अपना आदर्श मानने लगा है। ग्रामों में बहुत से व्यक्तियों की यह धारणा प्रबल होने लगी है कि उनकी लोक–संस्कृति इस सीमा तक परिवर्तित हो गयी कि अब इसे उनके जीवन के लिए अधिक उपयोगी नहीं कहा जा सकता है।

इसके पश्चात् भी यह ध्यान रखना होगा कि लोक–संस्कृति में उत्पन्न परिवर्तन अभी इतने सीमित है कि इनके आधार पर ग्रामीण समुदाय के लोक–जीवन को पूर्णतया विघटित नहीं कहा जा सकता यद्यपि इन परिवर्तनों में तीव्रता आने पर लोक–जीवन में विघटन के तत्व अधिक प्रभावपूर्ण बन सकते हैं।

●